

जिनमणिमालायां तृतीयो मणिः ३

उपाध्यायप्रवरश्रीश्रीवल्लभोपाध्यायविहितः

स्वोपज्ञवृत्तिविभूषितः

**श्रीअरनाथ-जिनस्तवः ।**

( साक्षिप्र-महत्प्रदलकमलमयः )

सम्पादकः—

उपाध्याय विनयसागरः 'साहित्याचार्य'

जैनदर्शनशास्त्री, साहित्यरत्न,

शास्त्रविशारदप्रभृतिभिर्हपाधिभिः विभूषितः

प्रतिष्ठालेखमंग्रह-नेमिदूतप्रभृतिप्रख्यानाञ्च सम्पादकः

प्रकाशकः—

मुनि विनयसागर साहित्याचार्य

अध्यक्ष—सुमति सदन,

कोटा (राजस्थान)

## अहमदाबादस्थ दाताओं की शुभनामावली

- ५०१) श्री खरतरगच्छ सघ तरफमे वहीवटदार कोठारी  
चदुलाल मोहनलाल
- १०१) खरतरगच्छना सेठ कोठारी भाई मणीलाल मोहनलाल
- १०१) खरतरगच्छ ना मेठ भाई चदुलाल मोहनलाल,  
ख०गच्छना वहीवटदार
- २०१) शेठ हीराचन्द्रजी देवेन्द्रकुमार गोलेछा
- १०१) शेठ मरदारमलजी पावुदानजी
- ५१) शेठ घनाजी रत्नाजी
- ५१) शेठ परीख मगलदाम नगीनदाम
- ८१) शेठ गोकलदासजी भाणेकजी
- ८१) शेठ राणाजी भारताजी
- ८१) शेठ मूलचदजी बट्टीदासजी
- ११) शेठ हीरालालजी लूणिआ

उरसि मे यथा सिक्तं स्नेहद्रुग्धं तपीमयम् ।  
श्यामायै मातृरूपायै सूनुनेदं समर्प्यते ॥

श्यामासूनु —  
विनय

## भूमिका

उपाध्याय श्रीवल्लभ रचित अरनाथ-जिनस्तव वृत्ति-सहित पाठकों के सामने है । इसमें अठारहवें तीर्थङ्कर श्रीअरनाथ<sup>१</sup>का स्तवन किया गया है । कुल मिलाकर इसमें ५५ छन्दों में स्तुति की गई है, जिनमें से प्रत्येक पर लेखक ने स्वयं वृत्ति लिखी है, जैसा कि वृत्ति के अन्तिम पद्य से पता लगता है :—

येषां स्फुरत्प्रतापाधिक्रयजितः सन्निरन्तरं भानुः ।

भ्रमतितमां वियति हि ते, ज्ञानविमलवाचका नन्द्युः ॥

तत्पादाम्बुजमधुकरशिष्यश्रीवल्लभेन गणिना वै ।

विहिता स्तववृत्तिरियं, यदनृतमिह तद्रुधैः शोध्यम् ॥

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें एक सहस्र रकारों का प्रयोग किया गया है । एक रकार यहाँ एक कमलदल का प्रतीक है; अतः सहस्र रकारों के प्रयोग द्वारा एक सहस्रदल कमलरूप स्तवन की कल्पना की गई है । ऐसा करने में सचमुच बड़े प्रयत्न, पाण्डित्य और प्रतिभाकी आवश्यकता थी । अतएव लेखक ने एक प्रकार की गर्वोक्ति के रूप में प्रारम्भ में ही कहा है :—

१. अरनाथका चरित देखनेके लिये देखें, हेमचन्द्राचार्य प्रणीत त्रिशष्टिशलाकापरचरित ।

स्वकीयविद्यागुरुसत्प्रसादात्,

करोमि वृत्ति स्तवनस्य चार्वीम् ।

अरं जिनं हर्षकरं प्रणम्य,

सहस्रपत्राम्बुजगर्भितस्य ॥

सहस्रदलकमल का सम्बन्ध इस देश में योगशास्त्र से रहा है; वस्तुतः यह कल्पना उद्भूत ही वहाँ से हुई। योग में उच्चतम अनुभूति को विभिन्न पद्धतियों में शतदलकमल या सहस्रदलकमल के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया है। वैदिक-साहित्य में इसे कभी कभी सहस्राक्षरा वाक् या महस्रधार-पवमान भी कहा गया है। यह सहस्राक्षरा वाक् ही संभवतः पुद्गल-परमाणुओं के आत्यन्तिक निरसन के पश्चात् अवशिष्ट शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है जिसके इस रूप को ही "सहस्रमुख शेष" के प्रतीक में मूर्तिमान किया गया हो। यही कल्पना सहस्रारचक्र के मूल में भी है, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि जैन, बौद्ध तथा वैदिक वाङ्मय में विविधरूप में प्रयुक्त चक्र अन्त में कमल के साथ तादात्म्य करने लगा था; अशोक स्तम्भों पर निर्मित चक्र की रचना इसका सब से बड़ा प्रमाण है।

अस्तु, सहस्रदलकमलगर्भित स्तवन का प्रयोग एक तीर्थङ्कर के लिये अत्यन्त ही उपयुक्त है। 'तीर्थङ्कर' शब्द का अर्थ प्रायः चतुर्विधसंघकर्ता किया जाता है। यद्यपि इस अर्थ को अव्यवहार्य नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसका एक अर्थ और भी है जो 'तीर्थ' शब्द की मूलधानु 'नृ' के प्रवृत्त अर्थ को ध्यान में रखकर संस्कृत-साहित्य में

किया गया है। इसके अनुसार तीर्थ एक घाट है, एक मार्ग है जिसके द्वारा भव-सरिता को जीव पार कर सकता है। इसी मार्ग को दिखलाने वाले तीर्थङ्कर हैं; और इस मार्ग पर चलने के लिये समाज को चतुर्विध सङ्घ के रूप में संगठित किया, अतः बाह्य सामाजिक दृष्टि से यह चतुर्विध सङ्घ ही वस्तुतः उस तीर्थ या मार्ग का स्थूलतम रूप है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस स्थूल तीर्थ का सूक्ष्मरूप और चरमलक्ष्य वह आध्यात्मिक तीर्थ या मार्ग ही था जिसके द्वारा उस आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त किया जा सकता था जिसका प्रतीक सहस्रदलकमल है। इसी मार्ग को जानने वाले 'गातुविद' तथा बनाने वाले 'पथिकृत' नाम से वेदों में आये हैं। इसी मार्ग को संसार के लिये प्रकट करने के कारण ऋषभदेव आदि महापुरुष 'तीर्थङ्कर' नाम से अभिहित हुये। अतः तीर्थङ्कर और सहस्रदलकमल का स्वाभाविक संबन्ध है।

काव्य की दृष्टि से, यह स्तवन वस्तुतः एक चित्रकाव्य है जो साहित्यशास्त्र में एक अधम काव्य माना गया। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि चित्रकाव्य की रचना में छन्दशास्त्र, व्याकरण, निर्वचन तथा कोष आदि पर पूर्ण आधिपत्य होना आवश्यक है। यही कारण है कि इस प्रकार की रचनाएँ साहित्य में नहीं के बराबर हैं। श्रीवल्लभ उपाध्याय ने भी अपने ग्रंथ की रचना में ऐसे ही पाण्डित्य का परिचय दिया है, जैसा कि परिशिष्ट प से स्पष्ट है। इतने सीमित काव्य में सहस्र रकारों का प्रयोग इस पाण्डित्य से ही संभव हो सका। अतः

चाहे भावाभिव्यक्ति या रस-निष्पत्ति की दृष्टि से इसे उत्कृष्ट काव्य न माना जाय, परन्तु विचार-वैदग्ध्य, रचना-कौशल तथा उक्ति-वैचित्र्यकी दृष्टि से प्रस्तुत काव्य एक सर्वोत्कृष्ट चित्रकाव्य है और जो पाण्डित काव्य-प्रेमी इस प्रकार के काव्यों में निपुण और अभ्यस्त है उनके लिये एक उच्च-कोटि का मनोरजनकारी स्तवन है ।

जो पाण्डित्य और पाठ्य लेखक ने रकारों के विविध प्रयोग में दिखलाया है उसके कुछ उदाहरण देना यहाँ असंगत न होगा । प्रथम दो छन्दों के रकार-गर्भित शब्दों को ही ले लीजिये —

असुरनिर्जरवन्धुरशेखर-प्रचुरभव्यरजोभिर पञ्जिरम् ।

क्रमरज शिरसा सरस वरं, जिन रमेश्वर ! मेदुरशङ्कर ॥१॥

प्रवरवर्णरमागरचन्द्रि-जठररागरसाविरसङ्गर ! ।

मुचिरकृन्तरभीतरभद्रर ! कुरु रमं भर मामरहत्यर ! ॥२॥

इन दोनों श्लोकोंमें कुल ३२ रकार हैं । इनमें आमरहत्यर, चन्द्रि आदि शब्दों को रकार गर्भित करने के लिये जिस प्रतिभा और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह उनकी स्वोपज्ञवृत्ति से भलीभाँति प्रगट है । इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन अरजिनस्तव-वृत्ति प्रकरण में आगे करेंगे ।

श्रीवल्लभ ने अपनी इस पुस्तक में जिस पाण्डित्य का परिचय दिया है, वह केवल उनही तक सीमित नहीं थी । उनकी गुरु-शरम्परा में जैसा कि हम देखेंगे बड़े-बड़े माने हुए विद्वान् उपाध्याय हुए, और इसमें संदेह नहीं कि ऐसी

ज्ञान-समृद्ध परम्परा में जिसका व्यक्तित्व विकसित हुआ हो वह अपने कृतित्व और व्यक्तित्वके लिये उस परम्परा का सब से अधिक ऋणी होगा । इसीलिये कवि के परिचय से पूर्व ग्रन्थ के माहात्म्य की पृष्ठभूमि को समझने के लिये सर्वप्रथम गुरु-परम्परा को जान लेना आवश्यक है ।

### गुरु-परम्परा

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता कवि श्रीवल्लभ वाचनाचार्य उपाध्याय श्रीज्ञानविमल गणि के शिष्य थे । आपकी गुरु-परम्परा बहुत ही उच्चकोटि के विद्वानों तथा गीनार्थों से अलंकृत रही है, जैसा कि आपने अपनी टीका ग्रन्थों की प्रजस्तियों में दिखलाया है :—

गुशुभिरे जिनराजमुनीश्वराः, सरतराह्वगणाभ्रदिवाकराः ।

तदनु भूरिगुणा जयसागरा, जगति रेजुरनुत्तमपाठकाः ॥७॥

तेषां शिष्या मुस्या दक्षा आमन्नदूप्यगुणलक्षाः ।

श्रीरत्नचन्द्रनामोपाध्यायाः साधुपरिघायाः ॥८॥

तत्पट्टस्फुटपद्मप्रकाशनोदारभूरसङ्घाताः ।

श्रीभक्तिलाभनामोपाध्यायाः शास्त्रकर्तारः ॥९॥

धोमन्तोऽन्तिपदस्तेषां कलाकौशलपेसालाः ।

ममजायन्त राजन्ती ग्रन्थार्याम्भोधिपारगाः ॥१०॥

चारित्रसारपाठक-भावाकर-सद्गुणीश्वरा दक्षाः ।

श्रीचारित्रचन्द्रवाचकधुर्याः स्मार्या मुनीशानाम् ॥११॥

तेषां क्रमशः पट्टव्योमाङ्गणशीतरश्मिसङ्घाताः ।

श्रीभानुमेष्याचक-जीवकलश-कनककलशाह्वाः ॥१२॥



तत्र चारित्रसाराख्या उपाध्यायाः महाशयाः ।  
 वभूवुः श्रुतपाथोधिपारोणाः साधुवृत्तयः ॥१३॥  
 तत्पट्टे समभूवन् विलसत्संवेगरङ्गसंल्लीनाः ।  
 वाचकपदप्रधानाः श्रीमन्तो भानुमेर्वाह्वाः ॥१४॥  
 सौभाग्यीष निविडजडतां व्यञ्जयत्यन्तयन्ती,  
 यद्वक्त्राम्भोरुहसु वर्साति प्राप्य गौर्लालसीति ।  
 गम्भीरा ये बृहद्बुधयः स्फूर्तिमन्तो महान्तो,  
 गाम्भीर्यादिप्रवितसुगुणैर्वर्ष्यलावण्यपुण्याः ॥१५॥  
 जयन्ति क्षमाया समयकथित ज्ञानविमला-  
 दिचर चञ्चत्पाठकपदवरा ज्ञानविमलाः ।  
 लसत्तत्पट्टे वचनरचनारञ्जितजना,  
 महावादिब्राजप्रमितिकथनावाप्तविजया. ॥१६॥  
 वैराग्यरससंल्लीना तद्गुरुभ्रातरोऽधुना ।  
 विजयन्ते महान्तः श्रीतेजोरङ्गगणीश्वराः ॥१७॥  
 तेषा जयन्ति जयिनः सुनया विनेया.,  
 मद्भागधेयमतिमत्प्रतिवाद्यजेयाः ।  
 श्रीज्ञानसुन्दरगुधी-जयवल्लभाद्या ,  
 वाग्देवताप्रतिमसत्प्रतिभाप्रधानाः ॥१८॥  
 श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण ।  
 श्रीवल्लभेन रचिता शिलोच्छशास्त्रे शुभा टीका ॥१९॥  
 शिलोच्छनाममालावृत्ति-प्रशस्ति ।

राजच्छ्रीजिनराजसूरिगुरवोऽभूवन् पुरा भूतले,  
 विख्यातामलकीर्त्तिपूरितचतुर्दिग्मण्डलाः सर्वदा ।  
 मानोन्मत्तवदावदप्रवरधीवाद्योषदुर्दन्तिनां,  
 सिंहध्वाननिभाः प्रणाशनविधौ लब्धप्रतिष्ठोच्चयाः ॥७॥

तत्पट्टे विबुधाचितांह्लिकमलाब्राह्म्याप्तचञ्चद्वराः,  
 नानाशास्त्रपवित्रवृत्तिरचनाविख्यातसद्बुद्धयः ।  
 रेजुस्ते जगतीतले वरगुणाजीवावतारा इवो—  
 पाध्याया जयसागराः सुयशसः सत्पात्रशोभावहाः ॥८॥

तत्पट्टोदयशैलवालविलसत्सूर्योदयाः पाठका,  
 आसन् वाग्जितदेवसूरिकवयः श्रीरत्नाधन्द्राह्वयाः ।  
 तेषामन्तिपदो दिदीपिर इह दमायास्तले पाठका,  
 नानाशास्त्रकृतोवदातयशसः श्रीभक्तिलाभाह्वयाः ॥९॥

चारित्रसार—भावाकर—चारशुद्धांशुनामकाः शिष्याः ।  
 पाठक—गणीश—वाचकमुख्यास्तेषामजायन्त ॥१०॥  
 श्रीभानुमेरुवाचक—जीवकलश—कनककलशनामानः ।  
 समजायन्त महान्तस्तेषां पट्टे क्रमेणैते ॥११॥

श्रीभक्तिलाभपाठकशिष्याश्चारित्रसारनामानः ।  
 वेदेन्दुसह्यधाविद्यापारीणाः पाठका आसन् ॥१२॥

सिद्धान्तानुगतक्रियालयलसत्सम्प्राप्तशोभोदया,  
 दुर्मिथ्यात्वमतोत्कटोत्पलवनव्याघातसूर्योदयाः ।  
 तत्पट्टे विलसज्जगज्जनितमुञ्चारित्रलदमीधराः,  
 श्रीमद्वाचक भानुमेरुगुरवो धात्र्यां विरेजुश्चिरम् ॥१३॥

वेदग्रन्थविद्वन्वशास्त्रजडधीर्नारायणोऽयं पुन—

विज्ञायेति सरस्वती भगवती सम्यग्गुणान्वेपिणी ।  
माद्धं यन्मुखपङ्कजेऽखिलगुणैः किं लालसीति वसत्,  
तर्क-व्याकरणाद्यनेककांठनग्रन्थावलीपाठकाः ॥१४॥

जगद्धन्धास्तेजोपति हि सतत पाठकवरा,  
इदानी तच्छिष्या मुनिवरगुणा ज्ञानविमलाः ।  
यदाः शीतज्योतिर्धवलितलसत्क्षोणिवलयाः,  
स्फुरत्तेजःपुञ्जग्रहपुपमुपः पुण्यवपुपः ॥१५॥

युग्मम् ।

तत्सतीर्थ्या विराजन्ते तेजोरङ्गणीश्वराः ।  
साम्प्रत स्थविरा नित्यं तपोजपपरायणाः ॥१६॥

श्रीज्ञानसुन्दरसुधी-जयवल्लभाद्या,  
शिष्या जयन्ति च भुविप्रथितावदाताः ।  
वद्वत्तमा वरगुणाः सुवचस्विनश्च,  
तेषां स्फुरद्गुणमणिप्रवरोदधीनाम् ॥१७॥

नयां विख्यातकीर्तिना गुरुणामन्तिपदाणुना ।  
ऋता श्लोथलभनेय शेषसङ्ग्रहदीपिका ॥१८॥  
शेषसङ्ग्रहदीपिका-प्रशस्तिः ।

\*

\*

\*

इन प्रशस्तियों के आधार पर यदि इनका वंशवृक्ष  
यनाया जाय तो इन प्रकार होगा—

जिनराजसूरि

उपाध्याय जयसागर

रत्नचन्द्रोपाध्याय

मेघराज<sup>१</sup>

सोमकुञ्जर

सत्यरुचि

भक्तिलाभोपाध्याय

चारित्रसारोपाध्याय

भावसागरगणि

चारुचन्द्र वाचक

भानुमेरुउपाध्याय

जीवकलश

कनककलश

ज्ञानविमलोपाध्याय

तेजोरङ्गगणि

श्रीवल्लभोपाध्याय

ज्ञानसुन्दर

जयवल्लभ

यहां पर संक्षेप में इन मनीषियों का परिचय देना असंभव न होगा। अतः प्रत्येक के विषय में कुछ शब्द लिखे जा रहे हैं:—

१. मेघराज, सोमकुंजर और सत्यरुचि ये तीनों नाम 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' के आधार पर।

## जिनराजसूरि

युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार श्रमण भगवान महावीर की पट्ट-परम्परा में जिनराजसूरिजी ५४ वें पट्ट पर हुए हैं । आपकी जीवनी के सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं होता । स. १४३३ फाल्गुन कृष्णा पष्ठी के दिवस अणहिलपुर ( पाटण ) में श्रीलोकहिताचार्य<sup>१</sup> ने इन्हें आचार्य-पद प्रदान कर जिनोदयसूरि का पट्टधर घोषित किया । पट्टाभिषेक का पद-महोत्सव सा. घरणा ने किया था । आपने अपने कर-कमलों से सुवर्णप्रभ, भुवनरत्न और सागरचन्द्र<sup>२</sup> इन तीन मनीषियों को आचार्य-पद प्रदान किया था । आपने सं. १४४४ में चितोडगढ़ पर आदिनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी । सं. १४६१ में देवकुलपाटक ( देलवाडा ) में आपका स्वर्गवास

१ — आपको जिनोदयसूरि ने आचार्य-पद प्रदान किया था ।

२ — सागरचन्द्राचार्य ने, जेमलमेर के चिन्तामणि पार्श्वनाथ के मंदिर में श्रीजिनराजसूरि के आदेश में, स. १४५९ में जिन विम्बकी स्थापना की थी —

“ नवेपुवार्धीन्दुमितेय ( १४५९ ) बत्तरे, निदेशत. श्रीजिनराजसूरे ।  
अस्थापयन् गर्भगृहेत्र विम्ब, मुनीश्वरा. सागरचन्द्रसारा. ॥ २१ ॥ ”

जेमलमेर का तत्कालीन राजा लक्ष्मणदेव राजुल सागरचन्द्राचार्य या बहुत कुछ प्रणमक और भक्त था; जैसा कि निम्नलिखित पद्य से जाना जाता है:—

“ गाम्भीर्यवत्पारमोदतत्त्वाद्धार य सागरचन्द्रलक्ष्मीम् ।

यवन न भंजे नदिद वृत्तज्ञ मूरीश्वरान् सागरचन्द्रपादान् ॥ १४ ॥

( वि० त्रि० प्र० )

आपकी रचित मारचन्द्रटिप्पण प्राप्त है ।

हुआ था। भक्तिवश आराधनार्थ देलवाड़ा के सा. नान्हाक श्रावक ने आपकी मूर्ति बनवाकर उनके पट्टघर श्रीजिनवर्धनसूरि से प्रतिष्ठा करवाई थी, जो आज भी देलवाड़ा में विद्यमान है। इस मूर्ति पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है :—

“सं. १४६६ वर्षे माघ सुदि ६ दिने ऊकेशवंशे सा० सोपा सन्ताने सा० सुहडापुत्रेण सा० नान्हाकेन पुत्र वीरमादिपरिवारयुतेन श्रीजिनराजमूरिमूर्तिः कारिता प्रतिष्ठिता श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनवर्द्धनसूरिभिः।”

आपके करकमलों से प्रतिष्ठित मूर्तियाँ आज भी अनेक नगरों में बड़ी संख्या में प्राप्त होती हैं।

### उपाध्याय जयसागर

अर्बुदगिरि ( आवु ) खरतरवसही ( चौमुखजी का मन्दिर )के लेखों से ज्ञात होता है कि आप ओसवाल वंश के दरडागोत्रीय थे। आपकी माता का नाम सोखू था और पिता का नाम था आसराज। आपके भाई श्री मण्डलिक ने<sup>१</sup> प्रस्तुत खरतरवसही ( जिनालय ) बनवाकर, सं. १५१५ आपाढ कृष्णा प्रतिपदा को जिनमद्रसूरिके पट्टघर जिनचन्द्रसूरि से प्रतिष्ठा कराई। ओसवाल दरडागोत्रीय होने से आप राजस्थान के निवासी हों यह अधिक सम्भव है। किन्तु यह

१. आवु खरतरवसही के लेखों में मण्डलिक को 'श्री जयसागर-महोपाध्यायवान्धवेन' लिखा है जो अत्यन्त ही महत्वपूर्ण उल्लेख है।

ज्ञात नहीं कि कब और किस स्थान पर जन्म हुआ और कब दीक्षा ग्रहण की । आपने सं. १५०३ में प्रह्लादनपुर ( पालनपुर ) में शिष्य मत्यरुचि की अभ्यर्चना और शिष्य गणि रत्नचन्द्र की सहायता से पृथ्वीचन्द्रचरित्र नामक कथानक काव्य की सृष्टि की, जिसकी प्रशस्ति से कुछ उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं :--

तत्पट्टशाड्वलवृक्षः, स्थलकौस्तुभसन्निभः ।

श्रीजिनराजसूरीन्द्रो, योऽभूद्दीक्षागुरुर्मम ॥३॥

तदनु च श्रीजिनवर्धनसूरिः श्रीमानुदैदुदारमनाः ।

लक्षणसाहित्यादिग्रन्थेषु गुरुर्मम प्रथितः ॥४॥

श्रीजिनभद्रमुनीन्द्रा, खरतरगणगणनपूर्णचन्द्रमसः ।

ते चोपाध्यायपदप्रदानतो मे परमपूज्याः ॥५॥

श्रीजयसागरगणिना तेन मया वाचकेन शुचिवाच्यम् ।

पृथ्वीचन्द्रचरित्रं विरचितमुचितप्रविस्तारम् ॥६॥

प्रह्लादनपुरनगरे त्रिविन्दुतिथिवत्सरे कृतो ग्रन्थः ।

मालहाथायकवसतो समाधिसन्तोपयोगेन ॥७॥

अभ्यर्चनया सत्यरुचेर्वभूव, साहाय्यकारी गणि-रत्नचन्द्रः ।

उपक्रमोऽयं फलवान् ममाभूत्, क्रिया हि साहायक-

सव्यपेक्षया ॥८॥

आपके दीक्षागुरु थे जिनराजसूरि, और विद्यागुरु थे जिनवर्धनसूरि, जो जिनराजसूरि के ही पट्टधर थे । आपको उपाध्याय पद श्री जिनभद्रसूरि ने प्रदान किया था । जिनराजसूरि के करकमलों से निष्पादित आचार्य सागरचन्द्र ने

जिनराजसूरि के पट्टधर आचार्य जिनवर्धन को, जिन पर देवीका प्रकोप हो गया था, गच्छ की उन्नति के निमित्त पट्ट से उतारकर सं. १४७५ में जिनभद्रसूरि को स्थापित किया था । जिन जिनवर्धनसूरिजी से खरतर गच्छ की पिप्पलक शाखाका प्रादुर्भाव हुआ था, उनके पक्ष से हटाकर अपने पक्ष में लेने के लिये संभवतः सं. १४७५ में इनको उपाध्याय पद दिया होगा, क्योंकि सं. १४७८ में रचप्रणीत 'पर्वरत्नावली' १ में जयसागरजी ने स्वयं अपने को उपाध्याय पद से व्यवहृत किया है ।

आचार्य जिनभद्रसूरि ने जो ग्रन्थोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया था उसमें उ. जयसागरजी का सहायकरूप से पूर्ण सहयोग था । आपने भी अपने उपदेशों से बहुत से ग्रन्थ लिखवाये, जो जैसलमेर, पाटण आदिके भण्डारों में आज भी उपलब्ध हैं ।

आप साहित्य के उच्चकोटि के मर्मज्ञ थे । आपने कई मौलिक ग्रन्थों, टीकाओं एवं स्तोत्रों की रचना की, जिसमें से कई तो काल-कवलित हो चुके हैं<sup>२</sup> और कई शोध के

१. श्रीखरतरगच्छेना, श्री जिनराजसूरयः ।

गच्छिज्य श्रीउपाध्यायः रिचिज्जो प्यगागर ॥

अपिच रिभजगप्तानु नित्युनिमित्ते गलिः परिवत्तरे ।

गगगत्तनगेत्य समपिता, जयनु धर्मरुपा जिनशागने ॥

(पर्व रत्नावली प्रशस्ति)

२. अ पने इत्यन, स्तोत्रादि ग्रंथकी कई प्रतिया अवलोकन में आईं, परन्तु ये सभी अपूर्ण रूप में मिली हैं । १ जयचदवी भटार बीकानेर, २. पुष्पविजयजी मगह, ३. और मेरे मगहकी, ये तीनों प्रतियां समवालीन होने पर भी अपूर्ण मिली हैं ।



अभाव में अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। वर्तमान में जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उसकी तालिका निम्नलिखित है :—

### मौलिक रचना

१. पर्व रत्नावली कथा<sup>१</sup> ( र. सं. १४७८ पाटण )
२. विज्ञप्ति त्रिवेणी<sup>२</sup> ( सं. १४८४ सिन्धुदेश मलिकवाहण-पुर से पाटण श्रीजिनभद्रसूरि को प्रेषित )
३. पृथ्वीचन्द्र चरित्र<sup>३</sup> ( स. १५०३ प्रह्लादनपुर, गि. सत्यरुचि के आग्रह से, माल्हा थावक की वसति ( उपाश्रय )में )

### टीका—ग्रन्थ

४. सन्देहदोलावली लघुवृत्ति<sup>४</sup> ( सं. १४६५, श्लो. १५५०, इसका प्रथमालेखन शि. सोमकुञ्जर ने किया था और सशोधन स्वयं आ. जिनभद्रसूरि ने<sup>५</sup> )

१ इसकी १६वीं शतीकी लिखित एक प्रति मेरे मशहमें है।

२. जैन आत्मानन्द सभा भावनगर में प्रकाशित, मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित,

३. जयपुर खरतरमच्छ ज्ञानभण्डार में प्राप्त।

४. प० हीरालाल हमराज जामनगर द्वारा प्रकाशित

५. देखिये,

जैनेन्द्रागमतत्ववेदिभिरभिप्रेतार्थकल्पद्रुभि,

गद्भि श्रीजिनभद्रसूरिभिरिय वृत्तिविदुद्विष्टता।

५. गुह्यपारतन्त्र्य वृत्ति  
 ७. भावारिवारणस्तोत्रवृत्ति<sup>१</sup>  
 ६. उपसर्गहर स्तोत्र वृत्ति  
 ८. रघुवंश सर्गाधिकार<sup>२</sup>  
 ९. नेमिजिनस्तुति टीका<sup>३</sup>

### भाषा-साहित्य

१०. जिनकुशलसूरि छन्द ( सं. १४८१ मलिकवाहणपुर )	
११. वयरस्वामी रास पद्य ३६ ( सं. १८८६ जूनागढ )	
१२. गौतमरास	पद्य १२
१३. नगरकोट महातीर्थ चैत्य परिपाटी	" १७
१४. अष्टापद तीर्थ बावनी	" ५३
१५. चौबीसी	
१६. चैत्य परिपाटी	" २१
१७. वीतराग वीनती	" १५
१८. वीतराग स्तोत्र	" १६
१९. शत्रुञ्जय आदिनाथ वीनती	" १३
२०. शान्तिनाथ वीनती ( सं. १५०३ )	" ११

तद्वर्तारिककचश्रिभि श्रुतपयाध्वन्यैमंहावादिभिः,  
 प्रामाण्यं गमिता विचार्य च तपोरत्नैः पुरा वाचकैः ॥

सोमकुजर नामास्ति, विनेयो विनयी हि न ।

न्यधित प्रथमादर्शो, ग्रन्थमेनमनाकुलः ॥

विक्रमतः पचनवत्यधिकचतुर्दशशतेषु वर्षेषु ।

ग्रथितेयं श्लोकैरिह, पचदशशतानि सार्द्धानि ॥

१. प० ही० ह० द्वारा प्रकाशित, २. तपागच्छ भडार जेसलमेर, पत्र ३.  
 ३. षट्णमंडार पत्र ६.

२१. नेमिनाथ वीनती ( गिरनार )	”	१२
२२. नेमिनाथ वीनती	”	१६
२३. “ “ ( गिरनार )	”	१६
२४. नेमिनाथ मनोरथमाला	”	२१
२५. नेमिनाथ विवाहलड	”	२६
२६. नेमिनाथ भावपूजा स्तोत्र	”	१५
२७. नवपल्लव पार्श्व लघु वीनती	”	७
२८. पार्श्वनाथ लघु स्तोत्र	”	४
२९. अजितनाथ वीनती ( खभात )	”	१७
३०. महावीर वीनती	”	१३
३१. सौमन्वर स्तवन	”	१५
३२. चतुर्विंशति जिनस्तोत्र	”	१४
३३. पञ्चतीर्थी नमस्कार स्तोत्र	”	१६
३४. अर्जुदतीर्थ विज्ञप्तिस्तव	”	१३

### स्तोत्र-साहित्य

३५. तीर्थयात्रा स्तव	पद्य	१२
३६. पञ्चपरमेष्ठिस्तव	”	३
३७. वीतराग स्तव	”	१६
३८. वीतराग विज्ञप्ति	”	१५
३९. तीर्थराजी स्तव	”	२५
४०. पञ्चजिनाद्भुत स्तव	”	१५
४१. नगरकोट आदिजिनस्तव ( हारवद्ध )	”	२४
४२. अजितशान्ति लघु स्तव	”	१३

४३. शान्तिजिन स्तोत्र	१५
४४. नेमिनाथ पूजा स्तव ( माण्डव )	१५
४५. नेमि स्तुति	४
४६. नेमि स्तुति	४
४७. पार्श्वनाथ लघु स्तव	८
४८. पार्श्वनाथ लघु स्तव	७
४९. पार्श्वनाथ स्तोत्र	८
५०. पार्श्वस्तोत्र	४
५१. पार्श्व लघु स्तव ( यमकमय )	५
५२. पार्श्व स्तुति	४
५३. पार्श्वस्तोत्र ( खंभात )	५
५४. पार्श्वनाथ स्तोत्र ( शंखेश्वर ) यमकमय	७
५५. " " ( खंभात )	७
५६. पार्श्वनाथ स्तोत्र ( भरुकोट )	७
५७. पार्श्वस्तोत्र ( नागद्रह )	५
५८. पार्श्वनाथ स्तोत्र ( जीरावली )	४
५९. पार्श्वस्तोत्र ( पञ्चवर्गपरिहार )	७
६०. पार्श्वनाथ विज्ञप्ति	७
६१. महावीर विज्ञप्ति	१६
६२. विहरमान जिन स्तव	५
६३. विहरमान जिन स्तुति	४
६४. अष्ट प्रातिहार्यं स्तोत्र	३

आपने अपने जीवन में अनेक तीर्थयात्राएँ की थीं, जिनका वर्णन 'विज्ञप्तित्रिवेणी' जैसे आलङ्कारिक ग्रन्थों में पाया जाता है। आपकी शिष्य परम्परा भी विपुल थी, जिनमें उ० रत्नचन्द्र, पं. मेघराज गणि, सोमकुञ्जर<sup>१</sup>, स्थिरसंयम, सत्यरुचि गणि, प. भतिशील गणि, पं. हेमकुञ्जर, पं. ममयकुञ्जर, कुल्लकेशरि, अजितकेशरी आदि मुख्य थे<sup>२</sup>।

### उपाध्याय रत्नचन्द्र

उ० जयसागर प्रणीत 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' में जिसकी रचना सं. १४८४ में हुई थी, रत्नचन्द्र को 'क्षुल्लक<sup>३</sup>' पद से अभिहित किया है और आगे चलकर "रत्नचन्द्रक्षुल्लकं चाधीयमानस्वाध्यायं शब्दब्रह्मव्याकरणमधिजिगापयिपन्तः<sup>४</sup>" से ज्ञात होता है कि उपाध्यायजी स्वयं इनको व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करवा रहे थे। इस क्षुल्लक (नवदोक्षित) विशेषण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सं. १४८४ के आम-पास ही आपकी दीक्षा हुई होगी। आपने क्रमशः स्वशास्त्र और परशास्त्र का अध्ययन कर अच्छी विद्वता प्राप्त की। पृथ्वीचन्द्र चरित्र की प्रशस्ति के पद्य के अनुसार 'साहाय्यकारी गणिरत्नचन्द्रः' में व्यक्त

१. आपकी प्रणीत 'मन्त्ररत्नसंग्रह' प्रकृत है।

२. उपाध्यायजी के गन्धर्व में दिनोंप जानने के दिनों देखें —

विज्ञप्ति त्रिवेणी की प्रस्तावना

३. देखें, विज्ञप्ति त्रिवेणी पृ० १०

४. देखें, दि० वि० पृ० २१

होता है कि चरित्र की रचना में आप अपने गुरु के सहायकारी थे और उस समय तक उन्हें 'गणि' पद भी प्राप्त हो चुका था । विशेष योग्यता प्राप्त करने पर तत्कालीन गणनायक श्रीजिनभद्रमूरि के पट्टधर आचार्य श्रीजिनचन्द्रमूरि ने आपको 'उपाध्याय' पद प्रदान किया था । पाटन वाडीपुर-पार्श्वनाथ मन्दिर के मण्डार में स्थित सिद्धहेम-व्याकरण की लेखन प्रशस्ति<sup>५</sup> 'श्रीरत्नचन्द्रोपाध्यायानां' में स्पष्ट है कि सं. १५२१ के पूर्व ही आपको उपाध्याय पद प्राप्त हो गया था ।

### उ० भक्तिलाभ—भानुमेरु

उ० रत्नचन्द्र के शिष्य उपाध्याय भक्तिलाभ हुए । इनके संबंध में कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होते । आपके लिये सं. १५३२ में प्राकृतव्याकरण लिखा गया था, जिमकी लेखन पुष्पिका<sup>६</sup> इस प्रकार है:—

“सं. १५३२ वर्षे श्रीजयसागरमहोपाध्याय-शिष्य-रत्नचन्द्रोपाध्यायराजानामुपदेशेन शिष्य-भक्ति-

५ “ ग० १५२१ वर्षे श्रीरोही वास्त्वव्य उद्देश्यर्गाय माल्दुगोत्रीय माह महता भार्या गोनलदे पुत्र माह ईला मुश्रावकेण भ्यान् मेला चापा पद्मा जिनदाग प्रमुक्कवरिवारमहिनेन श्रीसरत्नगच्छे श्रीजयसागर-महोपाध्याय-शिष्य-श्रीरत्नचन्द्रोपाध्यायानामुपदेशेन श्रीगिद्धहेमलक्षणवृहद्-वृत्तिप्रपट्टप्रन्योत्रेवि ॥ ”

दशैं दि० त्रि० प्र० पृ० ७८

६. पाटन मठ के मण्डार में सुरक्षित है।

लाभाय [पठनार्थ] स्तम्भतीर्थवास्तव्य धीमालवंशे  
फोफलियागोत्रे श्रे. वाछा भा. देलू पुत्र लाखाकेन  
भार्या लीलादे जागा जेसिघादिपरिवारेण स्वपुण्यार्थ  
लिखापितम् ॥”

इससे यह निश्चित है कि आपको भी दीक्षा सं.  
१५३२ के पूर्व हो चुकी थी। आप भी उपाध्याय-पदधारी  
थे, जैसा कि उपाध्याय ज्ञानविमल द्वारा प्रणीत शब्द-  
प्रभेदवृत्ति प्रज्ञास्ति के १५वें पद्य से ज्ञात होता है :—

तच्छिष्या सकलाचलावलयसत्प्रख्यातकीर्त्युच्चयाः,

सिद्धान्तोदविगाहनकरसिकाः कारुण्यपाथोधयः ।

मद्भाग्योदयदीप्तपाठकपदश्रीराजिता रेजिरे,

दक्षिणप्रतिवादिमानमथनाः श्रीभक्तिलाभाभिधा ॥१५॥

आपकी निम्नलिखित रचनायें अभी तक प्राप्त  
हुई हैं —

१. बालशिक्षा व्याकरण<sup>१</sup>

२. लघुजातक टीका ( म. १५७१ बीकानेर )

३. कल्पान्तर्वाच्य<sup>२</sup>

४. वरकाणा पार्श्वनाथ स्तव

१. जेमलमेर मध्य महार, पृ ५५ नं १०८३ पत्र ८ अपूर्ण, जिगरा  
प्रारम्भ दम प्रकार है —

प्रणम्य ग्वगुण्णु भक्ष्या, ध्यात्वा देवी सरस्वतीन् ।

हिगार्थं भक्तिपात्रेण, बालशिक्षा विधीयते ॥

२. मेरे मसूहें

५. जीरावला पार्श्वनाथ स्तव
६. श्रीमन्धर स्तव<sup>१</sup> ( मफळसंमार )
७. रोहिणी तप स्तव
८. जिनहंसमूरि गुरुगीतम्<sup>२</sup>

आपके दो प्रधान शिष्यों का उल्लेख मिलता है, प्रथम उपाध्याय चारित्रमार और दूसरे गणि चारुचन्द्र । प्रधान शिष्य उ. चारित्रमार के मन्धन्व में कुछ भी उल्लेखनीय सामग्री प्राप्त नहीं है । केवल शब्दप्रनेदवृत्ति प्रगति पद्य १६वें के आधार पर ही यह निश्चित है कि आप उपाध्याय पद धारक थे । यथा :—

मध्वं प्राज्ञद्वरा ह्येन्दुवदुग्वाक्मूरवाराग्रणी,  
 प्रागल्भ्यप्रवरास्तपो विधिपराः मद्बद्धधुदाराशयाः ।  
 तेषामन्तिपदो वभूवुरजिता दृष्यत्प्रवादिवर्जः,  
 श्रीमत्पाठकगोखरा मुनिवराश्चारित्रसाराह्वयाः ॥१६॥

द्वितीय शिष्य वाचक चारुचन्द्र के जीवन के मन्धन्व में तो सामग्री प्राप्त नहीं है; किन्तु आपकी निम्नलिखित रचनायें ज्ञात हुई हैं :—

१. उत्तमकुमार चरित्र (१५७२ श्रीकानेर)
२. हरिवल चौपाई (सं. १५८१)
३. नन्दन मणियार गंधि (सं. १५८७)
४. रतिमार केवली चनुष्यदी

१. प्रकाशित. २. गे. जै. वा. सं. में प्रकाशित.



५. महाबल मलयसुन्दरी रास.
६. पञ्चतीर्थी स्तवन. (सं. १५६८)
- ७ भाषा विचार प्र० सावचूरि.
८. युगमन्धर गीत.

आपके शिष्य वाचनाचार्य ज्ञानविमल के गुरुवर उपाध्याय भानुमेरु हुए । आश्चर्य है कि आपके शिष्य ज्ञानविमल और प्रशिष्य श्रीवल्लभ ने केवल श्रद्धापूर्ण स्तुत्यात्मक पद्यों के अतिरिक्त अपने साहित्य में किञ्चित् भी उल्लेख नहीं किया । वे केवल स्तुति करते हुए कहते हैं—

वैराग्यं प्रबलं शमेऽतिविमलः शास्त्रीषवार्ताद्भूता,  
 सिद्धान्तैकरुचिर्मनोरमतमा भव्योपकारः परः ।  
 चारित्र्यं च जगत्पनुत्तरतर तत्पट्टशोभावहा,  
 येषा श्रीयुतभानुमेरुगुरवस्ते वाचका भ्रेजिरे ॥

आपकी किसी साहित्य सृजना का भी पता नहीं चलता । आपके प्रधान दो शिष्य थे—एक वाचनाचार्य ज्ञानविमल और दूसरे थे तेजोरङ्ग गणि ।

### वाचनाचार्य ज्ञानविमल

ज्ञानविमलजी की 'विमल' नन्दी एवं स्वरचित शब्दप्रभेदवृत्ति (र. स. १६५४) को देखते हुए (मु. श्रीजिनचन्द्रगूरि के नन्दिपत्र के अनुगार छट्ठी नन्दी 'विमल' है, तो) नन्दी प्रमानुमार संभव है कि आपकी दीक्षा १६१५ और १६१८ के मध्य में हुई हो । आपके

शिष्य श्रीवल्लभ द्वारा रचित 'शिलोच्छ व्याख्या' ( र. सं १६५४ ) और स्वयं रचित शब्दप्रभेदवृत्ति मे "श्रीज्ञानविमल-पाठक" पाठक पद को देखने से यह तो स्वतः सिद्ध सा हो जाता है कि सं. १६५४ के पूर्व ही आप उपाध्याय पद से अलङ्कृत हो चुके थे । आपको पाठक पद तत्कालीन गच्छ-नायक युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि ने ही दिया था ।

साहसाङ्कचरितकार<sup>१</sup> श्रीमहेश्वर कवि प्रणीत 'शब्दप्रभेद' नामक कोष पर आपने सं. १६५४ आषाढ शुक्ला द्वितीया को विक्रमनगर (बीकानेर) नरेश श्रीरायसिंहजी के विजय राज्य मे ३७०० ग्रन्थाग्रन्थमय विस्तृत टीका पूर्ण की । इसमें उनके शिष्य श्रीवल्लभ का पूर्ण सहयोग भी था और इसका प्रथमादर्श आपके शिष्य श्रीज्ञानसुन्दर और जयवल्लभ ने लिखा था, जैसा कि प्रगति से ज्ञात होता है .-

अस्मदन्तिषदो गाढसाहाय्यात् सिद्धिमागता ।

विद्वच्छ्रीवल्लभाह्वस्य युक्तायुक्तविवेचिनः ॥ २० ॥

\*

\*

\*

प्रथमादर्शो लिखिताऽस्मच्छिष्य ज्ञानसुन्दराह्वेन ।

जयवल्लभगणिनाऽपि च विचारविज्ञेन भक्तेन ॥ २३ ॥

१ श्रीसाहसाङ्कचरितप्रमुक्तानु गद्यपद्यप्रबन्धरचनासु वितन्वतैव ।  
व्युत्पत्तिमुज्ज्वलतमा परमा च शक्तिमुल्लासिता जगति येन  
सरस्वतीयम् ॥

श्रीमद्विक्रमनगरे राजच्छीराजसिंहनृपराज्ये ।

सल्लोकचक्रवाकप्रमोदसूर्योदये सम्यक् ॥२४॥

चतुराननवदनेन्द्रियरसवसुधासम्मिते लसद्वर्षे ।

श्रीमद्विक्रमनृपतोऽतिक्रान्तोऽर्जीव-कृतहर्षे ॥२५॥

शुभोपयोगे शुभयोगयुक्ते, वरे द्वितीयादिवसेतिशुद्धे ।

आपाढमासस्य विशुद्धपक्षे, पुष्यर्कसयुक्तगभस्तिवारे ॥ २६ ॥

\*

\*

\*

अस्यास्त्रीणि महृसाप्यधिकानि सप्तभिः शतैः ।

इत्येव प्रमितिर्ज्ञेया, श्लोकमानेन निश्चिता ॥ २७ ॥

\*

\*

\*

इस टीका को देखते हुए ज्ञात होता है कि पाठक जी की प्रतिभा विशाल थी । व्याकरण और कोष माहित्य पर तो उनका एकाधिपत्य सा नजर आता है । स्थान-स्थान पर प्रायः सभी व्याकरणों और अनेकार्थादि कोषों के उद्धरण प्रचुर-परिमाण में दृष्टि गोचर होते हैं । शब्दप्रभेद के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण पद्य की भूमिका देखने में ही उनके वैयाकरणत्व का परिचय प्राप्त हो जायगा —

“ इह हि प्रेक्षापूर्वकारिणा महाकवीना ग्रन्थारम्भे  
यथाभीष्टदेवतागंस्तयन-मन्युदयनिदान तथैवोत्कृष्टप्रशब्दग्रहण  
मकण्डमङ्गलनिदानमस्तीति स्वमनसि निधाय श्री मन्महेश्वर-  
वचय 'प्रशब्द' आदौ प्रयुञ्जत । उपनञ्च —

प्रशब्दश्चाप्य शब्दश्च, द्वायेती ग्रहणः पुरा ।

कण्ठ भित्त्वा विनिर्याती, तस्मान् मङ्गलवाचकी ॥

इति । यथा च श्रीकात्यायनाचार्याः नित्ये शब्दार्थसम्बन्ध इति वक्तव्ये 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धः' इत्युक्तवन्तः । यथा श्रीपाणिन्याचार्या अपि पाणिनीयव्याकरणादौ आदेच् वृद्धिः इति वक्तव्ये वृद्धिशब्दमादौ प्रयुज्य 'वृद्धिरादेच्' इत्यभिहितवन्तः । यथा कुमारः अपि वर्णसमाम्नायः सिद्ध इति वक्तव्ये कलापव्याकरणादौ 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' इति प्रयुक्तवन्तः । यथा इन्द्रा इन्द्रव्याकरणादौ रुढेरनुक्तानां सिद्धि इति वक्तव्ये 'सिद्धिरनुक्तानां रुढेः' इति रचितवन्तः । यथा श्रीहेमवन्द्राचार्या अपि सिद्धहेमचन्द्रव्याकरणादौ स्याद्वादात् सिद्धिरित्यभिधेये 'सिद्धिः स्याद्वादान्' इति कथितवन्तः । यथा श्रीहेमशब्दोपदेव विद्वांसोऽपि भुग्घोषव्याकरणादौ शब्दः शमिति वक्तव्ये 'शं शब्दः' इति कृतिवन्तः । यथा श्रीशाकटायनाचार्याः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादी 'श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादि सर्ववेदसाम्' इति मङ्गलार्थं श्रीशब्दप्रयोगं सन्दृष्टवन्तः । यथा श्रीअनुभूतिस्वरूपाचार्या अपि सरस्वतीं प्रश्रियां ऋजुकुर्वाणाः 'प्रणम्य परमात्मानं' इति गङ्गलार्थं प्रशब्दप्रयोगं घृतवन्तस्तथा धीमन्तः श्रीमहेश्वर कवयोऽपि शब्दप्रभेदनामा ग्रन्थादौ प्रशब्दलक्षणं मङ्गलं हृद्यवधार्य प्रशब्दप्रयोगं न्यस्तवन्त इत्यवमेयम् ।

### कवि - परिचय

उपाध्याय श्री वल्लभ कहां उत्पन्न हुए? किस मंत्र में उनका जन्म हुआ? उनका वारियपन का क्या नाम था? उनके माता-पिता का क्या नाम था? उन्होंने

कव दीक्षा ग्रहण की ? और कव उनका स्वर्गवास हुआ ? इत्यादि बातों का तो कुछ भी पता नहीं लगता । उनके ग्रन्थों एवं तत्कालीन अन्य रचनाओं से इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता । किन्तु इनके मौलिक एवं टीका ग्रन्थों के अवलोकन करने से उपाध्याय जी के विषय में जिन कुछ ज्ञातव्य बातों का पता चलता है, वे उपस्थित की जा रही हैं :—

### जन्मस्थान

अभिधान चिन्तामणि नाममाला की सारोद्धार नाम्नी टीका में एवं हैमलिङ्गानुशासनविवरण की दुर्गपदप्रबोधवृत्ति में कई स्थलों पर शब्दों के पर्याय देते हुए 'इति भाषा' 'इति प्रमिद्धे' से जो प्रचलित प्रान्तीय शब्द प्रयुक्त किये हैं, उनमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किस प्रान्त के निवासी थे । उदाहरण के लिये यहाँ कुछ शब्द दिये जाते हैं :—

उद्योत = उजवाला, तावडा

मरीचिका = झाङ्गूआ

पारिपार्श्वक = पामवाण

वर्षा = बरिमा

गन्ताल = तिवारदज

कादम्बिनी = कालाद्विणि

जलकण = बाट्ट छूट

आह्वान = तैडण, बुलावण,

निहंतग

विवाद = शरडा

अन्योन्यविरुद्धवचन = अण-

मिलता वचन

पृष्ठभांसादन = घाडी

अमहोपाशेषण = अणहृतो

दोष

उर्ध्वर्धुष्ट = पोषणक

अशुभवचन = भूटा वचन

प्रत्याण = शरण

हल्लोसक = घूमरी  
 वादित्रादि = वाजा, रवाव,  
 खूँटी, खीली, डोल,  
 वरघू, नफेरी, ढोलादिक  
 वजावणरा ढाँलिया,  
 मनाक् स्मित = मुरकणउ  
 महतिहास = खड खड हंसणो  
 स्वपक्षभय = ग्रामियांरउ भय  
 लपिका = लापसी  
 अबपुजित = ऊकरडओ  
 उपालम्भ = ओलम्भओ  
 संस्तव = ओलखाण, पिछाण

भक्ष्यपिण्ड = कवा  
 कूपसि = कांचली  
 घान्यागार = कोठार  
 निचुलक = उतरणा, खाट,  
 पछेवड़ी  
 नित्तिनिखातकीलक = घोड-  
 लओ, खूँटा  
 शमीवृक्ष = खेजड़ी  
 शमीफल = सांगरी  
 मन्दभं = गूँथणउ  
 चुलुक = चलू  
 वम्त्र = लूगड़ा

इन शब्दों को देखने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि कवि का जन्म एवं बाल्यकाल राजस्थान प्रान्त में ही व्यतीत हुआ है। राजस्थान प्रान्त में विशेष कर उपरि उल्लिखित 'भुंडावचन, ऊकरडओ, ओलंमओ, कवा, कांचली खेजड़ी, सांगरी, लूगड़ा' आदि शब्दों को देखते हुए वे जोधपुर राज्य के ही निवासी हों, अधिक संभव है। यहाँ यह संभावना की जा सकती है कि दीक्षा के पश्चात् इनका जीवनकाल राजस्थान में अधिक व्यतीत हुआ हो और वहाँ निरंतर जन-मम्पर्क के कारण उनको भाषा में देशी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ हो, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जिन घरेलू शब्दों का व्यवहार उन्होंने

किया है वे बाल्यपन के संस्कार के बिना भाषा में नहीं आ सकते ।

### दीक्षा

खरतरगच्छालङ्कार<sup>१</sup> आचार्यप्रवर श्रीजिनमाणिक्य-  
मूरि<sup>२</sup> के पट्टधर शाह अकब्वर द्वारा प्रदत्त युगप्रधान

१ इनका खरतरगच्छ का होना निम्नलिखित प्रमाणोमे सिद्ध है —

तत्रासीद् विबुधागणीर्मणगुरुश्रीवृद्धमानान्तिपद्,

मूरीन्द्र स जिनेश्वरो धनगताशीत्यामित्ते सवति ।

जित्वा श्रीअणहिल्लपत्तनपुरे दुर्वादिनो दुर्लभ —

धमापास्याद्विह्वद वर खरतरेत्याख्य यत्र प्राप्तवान् ॥ २ ॥

अ चि ना. वृ प्र.

श्रीमति खरतरगच्छे, स्मच्छेभूवभवाङ्गवृत्तिकरा ।

श्रीमदभयदेवाग्या, आचार्या लक्षगुणदशा " १ ॥

श्री ना टी. प्र

श्रीमत्खरतरगच्छे चक्रे ये रात्रवाङ्गनखुनि ।

श्रीमन्नोभयदेवाचार्या ज्याया विरेजुस्ते ॥ १ ॥

स म टी प्र

श्रीजिनेश्वरमूरीन्द्रैरित्यानि प्रापिते शिषी ।

गच्छे खरतरे स्मच्छे, उद्वंगाने मूमुधुमि । १ ॥

दु प्र. प्र

२ इनका गारण उपाध्याय श्रीदत्तभ ने वर्द्ध रत्नानो पर किया है —

खरतरगणत्रलधिगमुह्यागतखनीपतिप्रकाराणाम् ।

नगानेवतराणा, श्रीजिनमागिरयमूरीणाम् । १ ॥

अ इ न वृ. प्र

विरुद्धधारक आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि<sup>१</sup>ने अपने ५८ वर्ष

विल्यातयजनस्तेषा, पट्टक्रमेण मूर्यः।

श्रीमच्छ्रीजिनमागिक्याचार्या. वनाया विरेजिरे ॥ ३ ॥

श्री. ना. वृ. प्र

श्रीजिनमागिक्यसूरि का जन्म स. १५४९ में हुआ। पिता कूकड़ चोपड़ा गोत्रीय संघपति राउलदेव थे और माता थी रम्यादेवी। स. १५६० में ११ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने आचार्य जिनहंससूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। स. १५८२ माघ शुक्ल पञ्चमी को गच्छनाथक जिनहंससूरि ने उन्हें आचार्य पद प्रदान किया। स. १५९३ नाथ शुक्ला प्रतिपदा गुरुवार को उन्होंने विक्रमपुर (बीकानेर) के मंत्री कर्मसिंह द्वारा निर्मापित नमिनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा की। तत्पश्चात् गच्छ के माधुओं में मिथिलाचार देखकर वे क्लिबोद्धार का विचार कर रहे थे। इमोलिये वे देरावर में 'दादा' की यात्रा करने गये और वहाँ से जैसलमेर आते हुए मार्ग में ही स. १६१२ आषाढ शुक्ला ५ को उनका भ्रमंगम हो गया था।

१. उनका श्रीवल्लभजी ने थडापूर्वक स्मरण किया है:—

एवं सूरिपरम्परागत इह श्रेष्ठे गणे दीपिते,

स श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिसुगुणैश्चारित्रपाविन्द्यभृत्।

नेज. श्रीमद्वक्त्ररामिधनृषः श्रीपातिरूहिर्मुदा—

वादीद्यत्सु युगप्रधान इति सन्नाम्ना यथार्थेन वै ॥ ४ ॥

श्रीमन्त्रीन्दरधर्मवन्द्रविहितोद्यत्कोटिटड्वक्ययं,

श्रीनन्द्युत्सवपूर्वकं युगवरा यस्मै ददौ स्व पदम्।

श्रीमल्लामपुरे दयादृढमतिश्रीपातिमाह्याग्रहा—

त्रत्याच्छ्रीजिनचन्द्रसूरिसुगुरु. मस्कीतनेजोयसाः ॥ ५ ॥

अ. चि. ना. वृ. प्र.



विशद आचार्य काल में ४४ — नन्दिओं<sup>१</sup> (नामान्तपदों) की स्थापना की थी। उसमें २६वीं मंथ्या की नन्दि 'वल्लभ' नाम की है, जिस में १६वीं नन्दि 'सिंह' की स्थापना सं १६२३ में हो चुकी थी। अतः अनुमानतः 'वल्लभ' नन्दि की स्थापना सं. १६३० एवं १६४० के मध्यकाल में हुई होगी। इस अनुमान का मुख्य कारण एक यह भी है कि श्रीवल्लभ ने शीलोञ्चनाममाला पर सं. १६५४ चंद्र कृष्णा मप्तमी को नागोर में वृत्ति की रचना पूर्ण की। किसी भी ग्रन्थ पर लेखनी चलाने के लिये, विशेषकर व्याकरण एवं कोष पर विशेष अध्ययन और योग्यता की अपेक्षा है। अतः शीलोञ्चनाममाला जैसी पुस्तक पर वृत्ति रचने के लिये दीक्षा के पश्चात् १५-१८ वर्ष का समय तो उन्हें अवश्य ही तैयारी के लिये लगा होगा। यहाँ यह संभावना भी की जा सकती है कि दीक्षापूर्व ही वे संस्कृत माहित्य के विद्वान हों। पर प्रायः जैन-समाज में देखने में यह आता है कि

---

१६७० वाग्भिन कृष्णा द्वितीया को बिन्दाड़ा में उनका स्वर्गचान्न हुआ था। सं. १६१७ विजयदशमी के दिवस पाटण में आचार्य त्रिन वल्लभनूरि प्रणीत पौषषविविप्रकरण पर ३५५४ श्लोक परिमाण की उन्होंने विशद टीका की रचना की थी। विशेष परिचय के लिये देखें, धीरजगरवन्द मैवरलाल नाहटा द्वारा लिखित "युगप्रधान त्रिनचन्द्रनूरि"

१. देखें युगप्रधान त्रिनचन्द्रनूरि का प्रथम परिशिष्ट.

गार्हस्थ्य-जीवन में रहे हुए इने-गिने ही संस्कृत-साहित्य के विद्वान प्राप्त होते हैं। हाँ, जैन धार्मिक साहित्य एव कर्म सम्बन्धी साहित्य के उच्चकोटि के मर्मज्ञ अवश्य मिलेंगे। अतः यह अनुमान उपमुक्तसा ही प्रतीत होता है कि युगप्रधान ने १६३० और १६४० के बीच में आपको दीक्षा प्रदान कर श्रीवल्लभ नाम प्रदान किया हो।

### श्रीवल्लभ-प्रतिभा-परिचय

श्रीवल्लभ की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमें अगाध पाण्डित्य था और था उनका संस्कृत एव प्राकृत साहित्य पर पूर्ण अधिकार। वैसे तो उन्होंने किन किन शास्त्रों का अध्ययन किया और किनके पास किया, ऐसा कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु आपकी गुरु 'पाठक' परम्परा एक विद्वत्परम्परा थी एवं आपके गुरु स्वसाहित्य और परमाहित्य के निष्णात थे। इसलिये यह अनुमान किया जा सकता है कि विद्याभ्यास आपने अपने श्रीगुरु-चरणों में ही रहकर किया होगा।<sup>२</sup>

२ वेदव्यवहित्थान्त्रजटधीनारायणोय पुन -

विज्ञायेति मन्त्रनी नगवनी मन्त्रगुणान्वेधिणी।

सादं यन्मन्त्रद्वयेस्तिलगुणे वि लालगीति नगन्।

तत्रंभ्यापरणाउनेककटिनधन्वावली पाठवा ॥ १४॥

-आपके टीका-ग्रन्थों के अवलोकन से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि आप केवल जैन-साहित्य के ही विद्वान नहीं थे, अपितु समग्र संस्कृत साहित्य के जानकार थे। संस्कृत-साहित्य में टीकाकारों की बहुलता रही है किन्तु इनके समान टीकाकार, विरले ही हुए हैं। एक अभिधानचिन्ता-मणिनाममाला की टीका में ही लगभग १७० ग्रन्थों के उद्धरण—वे भी एक दो नहीं—किन्तु सैकड़ों की संख्या में देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आपने इन इन विषयों के निम्नलिखित ग्रन्थों का भली-भांति अवलोकन अवश्य ही किया था। उद्धृत व उल्लिखित ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है.—

व्याकरण — सिद्धहेमशब्दानुशासन, वृहद्वृत्ति, लघुन्यास<sup>१</sup>, न्यास<sup>२</sup>, ढुण्डिका<sup>३</sup>, धातुपारायण (हेमचन्द्रीय), हेम-लिङ्गानुशासन और स्वोपज्ञ टीका, प्राकृतव्याकरण (हेमचन्द्रीय) टीका सहित, देशीसूत्र टीका सहित<sup>४</sup>,

१ निवृत्त्यर्थं इति द्वितीय ग श्रवण न स्यात् इति न वाच्यम्, रूपमेव हि भिद्यते न श्रुतिः, शब्दस्य श्रोत्रसाहायत्वात् इति, पूर्वन्यासापेक्ष इति, निवृत्तमिति लघुन्यास. (अ. २४,१)

२. गर्भिणी पुवद्भावे सप्तमाध्याय-चतुर्युगपादवृत्तिपचासत्तम-सूत्रेण 'सयोगादिन' इत्यन्तलोपप्रतिषेधः, गर्भवती स्त्रीवचनात्तु इरणो-प्राप्तेरोत्सर्गिकवचनात्, इति न्यासकारः (अ १३०,१)

३. 'यणु' शलकादिधान्यविशेष, इति तद्धितडूढी। शम्भ्रशब्द स्तिर्यगर्थ, इति तद्धितडूढी।

४. यद्देशीसूत्रे 'सिङ्गोसलहपिशत्ला' इति, शलभः पिशाचश्च इति सट्टीका।

पाणिनीय व्याकरणे, पाणिनीय शिक्षा, महाभाष्य<sup>१</sup>, काशिकाकार<sup>२</sup>, शाकटायन<sup>३</sup>, सारस्वत, कविकल्पद्रुम (वोपदेवीय), कृष्ण पण्डित कृत प्रक्रिया कौमुदी वृत्ति, माधवभट्ट, उज्ज्वलदत्त<sup>४</sup>, गणरत्नमहोदधि टीका सह, न्यायमञ्जूषा टीका सह, दुर्गलिङ्गानुशासनवृत्ति<sup>५</sup>, चन्द्राचार्य<sup>६</sup>, श्रीकण्ठपुरुपोत्तमदेवादयः<sup>७</sup>. आदि ।

कोप — अमरकोप टीका सहित, क्षीरस्वामी (अमरकोप टीकाकार), अभिधान चिन्तामणि नाममाला टीका सहित, अनेकार्थ संग्रह (हेमचन्द्रीय) टीका सहित, श्रीजिनभद्रमूरिपादा (अपवर्ग नाममाला), अमरमाला<sup>८</sup>,

कात्यः<sup>१</sup>, गौडः<sup>२</sup>, देशीनाममाला<sup>३</sup> टीका सहित,  
 धनपालः<sup>४</sup> ध्वनिमंजरी (एकाक्षरी नाममाला)  
 निघण्टुशेषनाममाला<sup>५</sup> (हेमचन्द्रीय) टीका सहित,  
 पुरुषोत्तमदेव<sup>६</sup>, भागुरि<sup>७</sup>, महेश्वर ( )

१. यत्कात्य — अमान्याद्याश्च पीराञ्च, सद्भिः प्रकृतयः स्मृता ।  
 (अ. ६०-१), कात्यस्तु — प्रच्छन्नमन्तद्वारं यत्पक्षद्वारं नदुच्यते ।  
 (अ. ६१-२)
२. गौडस्तु — मुक्ताशुद्धौ पुमास्तारो, ननारुक्षक्षिमध्ययो ।  
 (अ. ४६-१), यद्गौड — स्त्रीनपुंसकयोः क्रोडा-वक्षसि स्यात् फिरी  
 पुमान् । श्लोडे पीनपयोधरे मृगद्वयः कः क्रीडितु नेच्छति ।  
 (अ. ४९-१) आदि
३. यद्देशी — मादिषु शब्देषु अनेकगर्वेषु मङ्हा बलकार आणासु मङ्ग  
 बलात्कार आणा च इति तटीका — एकार्येषु पदेषु बलकारमिम  
 पिणाओ इति । (अ. ६१-२)
- ४ धनपाल यदाह — क्रव्यादायातवो यातुधान, इति (अ. १४-१),  
 धनपालस्तु — आसदी विष्टर पीठमामनमिति । (अ. ५७-२)
- ५ पटोले तु पाण्डुफलः, कुलङ्क कर्कशश्छदः । राजीफलः कफहरो, राज-  
 मान्योऽमृताफलाः । इति हेमनिघण्टुशेषः ।
- ६ कूपोसकस्त्वर्द्धचोलक, इति पुरुषोत्तमदेव । (अ. ५६-२), यदाह—  
 पुरुषोत्तमदेव. — प्रेतादिभिर्गृहीतो य, स जाविष्टो ममत्  
 वहिरिति । (अ. ३७-१)
७. भागुरिस्तु — कुकुंदरी समाचष्टे, जनो जघनकूपकां, इति  
 (अ. ४९-२)

टीका सहित, मालाकार<sup>१</sup>, लिङ्गयसूरि<sup>२</sup>, व्याडिः<sup>३</sup>, विश्व, विश्वशम्भु (एकाक्षरी नाममाला), वाचस्पति, वैजयन्ती, शाश्वत<sup>४</sup>, श्रीधर टीका सहित, श्रीभोज<sup>५</sup>, शेषसग्रह (हेमचन्द्रीय), सुधाकलश (एकाक्षरी नाममाला) सौभरि (एकाक्षरी नाममाला), हलायुध टीका सह, हारावली आदि.

लक्षण — काव्यादर्श, काव्यशिक्षा, भानुदत्त (रसतरङ्गिणी)  
विदग्धमुखमण्डन,

छन्द — छन्दोनुशासन, छन्दश्चूडामणि<sup>६</sup>, वृत्तरत्नाकर,

१ मालाकारस्तु — मृत्वस्ता खवद्गर्भा, इति (अ. ११५-२), मालाकारस्तु — चुण्डी विपरोत्माश्च कृपया, इति । (अ. ९८-१)

२ श्रीलिङ्गयसूरिस्तु — धानरीपुत्रमिश्रगुहमहितधान्याम्बुकुलमद्यनाम-  
मंग्य, पञ्चेश्वरमकुलमद्यनाम शीघ्र, अण्वेश्वरगृहमद्यनाम  
जागर, इति श्रीष्यपि मिमिति । (अ. ८२-१), राजादिवरणार्थं  
वृत्तस्य घटवपालस्य नागनी, इति लिङ्गयसूरि । (अ. ९१-१), आदि

३ यद्व्याडिः — जन पितृगर्भा य गन्तागाहो मनोजव ।  
(अ. ३७-१)

४ गन्धिन्ववाद्गुम्पागोर्वृत्तात्ना च गन्धिनि, इति शाश्वत  
(अ. ११५-०)

५ शृङ्गिणम् इति श्रीभोज । (भा. ५८-१)

६ वैदिरवण्ड, तात्पर्येण च — स्यो स्यो वैदिरवम् । (अ. ६७-१)  
दुर्भाग्य है कि भाषायां तेषां च वा यह अन्य अत्राय है ।

काव्य — रघुवंश, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध  
टीका सहित, नैपथ चरित टीका सहित, नरहरि<sup>१</sup>  
(नैपथटीकाकार), मेघदूत टीका सहित, द्वयाश्रय  
काव्य (हेमचन्द्रीय) टीका सहित (टी. अभयतिल-  
कोपाध्याय), महाभारत<sup>२</sup>, हलायुध काव्य टीका  
सहित, रूपमाधवीय<sup>३</sup>, भट्टिः, गीतगोविन्द, आदिनाथ  
चरित्र (हेमचन्द्रीय), नेमिनाथ चरित्र (हेमचन्द्रीय),  
चम्पू<sup>४</sup>, त्रिशतीकार<sup>५</sup>, सौन्दर्यलहरी, महिम्नस्तोत्र<sup>६</sup>  
टीका सहित, वोपालिनः<sup>७</sup>, आदि.

- १ चरुर्द्धर्भरितरक्षुपत्रग, इति हयं, तरक्षत्रश्चित्रमृगा, पन्नगा —  
मपश्चित्र तम् । इति नरहरि. (११७-१), उद्भिदास्तु गुन्माद्याः  
इति नरहरि (अ. १२४-१) ।
- २ यद्भारतम् — पत्त्वज्ञौस्त्रिगुणं सर्वं, क्रमादाख्या यथांतरम् ।  
मेनामुत्त गुत्तमगणो, वाहिनी पृथना चमूः । अनीकिनीदशगुणा-  
माहुरक्षोहिणी वृधा । इति (दु. ३७)
- ३ तथा रूपमाधवीये — स्वरि कमपि न चाल रूपशवषभानो, त्रपुप  
उत्कलाहयमीयते दृश्यते वा । इति
४. मत्स्यगन्धिकप्रसारा विराजन्ते अन्तेविपणयो बहिष्च मल्ल्याश्रया.  
इति चम्पूमयम् (अ. १०५-१)
५. यथा च त्रिगनीकार — गच्छाह्नैस्तनुमिर्बराटकं काकणी चैकिनी  
(अ. १३७-२)
६. धनुष्पाणेषानिदिगमभिनपत्त्राकृतममु' इति महिम्नस्तोत्र । किं  
पिय अमु? 'सप्तवारुह' पत्र गह् वनमानेन शरेण शरीरे अन्तः  
प्रविश्य. उत्पादितमहाव्यपमित्यर्थं. । इति तट्टीका (अ. १२६-१)
७. वातप्रमो गमीरमृग, इति वोपालिनः (अ. ११८-२)

नीति — कीटिल्य<sup>१</sup> (अर्थशास्त्र), जय<sup>२</sup>, मुनि<sup>३</sup>, चाणक्य  
(चाणिक्यनीति)

सामुद्रिकशास्त्र<sup>४</sup>,

धनुर्वेद — धनुर्वेद<sup>५</sup>,

१. यत्कीटिल्य. — ये द्रव्यहेतोर्बालं हस्तिन चापि योधयेयुस्ते नीधना,  
(दु १७), यत्कीटिल्यः — कर्मणामारम्भोराय, पुत्रपद्रव्यमन्त्रत्,  
देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्शनिद्विभवेति पञ्चाङ्गो  
मन्त्रः। (अ. ६२-२), उद्धवं हृष्यते अनेन इति उद्घातन इति  
कीटिल्यः। (अ. १८-२)

२. यज्जय — धुन्वो घटे निवाहाय वग्द् ग्राम्ये च वम्कनि इति  
(अ ८२-१)।

३. यन्मुनि. — युगद्विनोरप्रामङ्ग (६८-२), यन्मुनि. — लघियाङ्ग,  
मारगनं इति (अ ६५-२), यन्मुनि — विधनाशीभवे नित्यं, नित्यं  
धामृतभोजन । विषयो मुक्त्तशेष म्यान्, यज्ञशिष्टमथामृतम्।  
(अ. ६३-१)

४. पृ. ८९-२, प ५

५. यद् धनुर्वेदः — अत्रतां वानपाद तु, तीरण चवानुकुञ्चितम्।  
शशीरे तु प्रकर्मव्य, हृन्मद्रयमविस्तरम्। १। पार्श्वी मविस्तरौ  
राशौ, समहृन्मप्रमाणतः। वैशाखस्यातके बन्ध, दूतगदस्य  
वेधने। २। प्रथवालीटे तु कर्तव्यः, मव्यन्तरेदशांनुकुञ्चितः।  
निर्यग्वाम पुरम्नव, दूरापाने विनिष्यते। ३। गमपादे गम पादौ  
निष्कम्पौ च मुमङ्गनी। मण्डरे मण्डलापारी, याज्ञनीदणो  
दिलेपनः। ४। (अ. ६६-२)



पुराण — गरुडपुराण, नारदपुराण, पद्मपुराण, भविष्योत्तर-  
पुराण, विष्णुपुराण टीका सहित, हरिवंशपुराण,  
भागवत टीका सहित,

जैनागम साहित्य — आवश्यकसूत्र<sup>१</sup>, आवश्यकचूर्ण<sup>२</sup>, आत्र-  
प्यकसूत्र बृहद्वृत्ति<sup>३</sup> (हारिमद्रीय), आचाराङ्गसूत्र  
सवृत्तिक<sup>४</sup>, सूत्रकृताङ्गसूत्र सवृत्तिक<sup>५</sup>, समवायाङ्गसूत्र  
वृत्ति सहित<sup>६</sup>, राजप्रदनीयसूत्र आ. मलयगिरि टीका  
सहित<sup>७</sup>, प्रज्ञापनासूत्र वृत्ति सहित<sup>८</sup>, उपदेयमाला  
कर्णिका टीका सहित<sup>९</sup>, तत्त्वार्थसूत्र, तिलकाचार्य<sup>१०</sup>,  
शीलतरङ्गिणी<sup>११</sup> (शीलोपदेयमाला वृत्ति), भक्तामर  
आदि.

१. अ. ५८-७। २. शी. ८०-१। ३. अ. ५७-७। ४. अ. ८०-७।  
५. अ. १०-७। ६. अ. ६-७। ७. अ. ५४-७। ८. अ. १०१-१।  
९. यदुपदेयमालाकर्णिकाटीका — तदा तस्मिन् षेनुःश्च विन्दोर्मन्दनि  
मसिज। आत्रगाभाजिहोर्दन्ता. कुड्यमन्व्योऽथ नम्न। न  
प्रत्ययोपदुदाव. प्रतिमूर्तमदानर। उति (अ. ११८-७)  
१०. यदुक्त तिलकाचार्यः — उगमेत्यादि व्याख्यानं उक्त्वाः श्रमना-  
च्छतन्वात् मानुषानुदंगन्वप्नेरु प्रथम श्रमदग्नातो ऋद्धम उति  
(अ. ५-७), अथोन्वाय मर्वाणा ना, प्रेष्मात्तश्च दिगीर्दित्याः।  
अश्वयन्करात्रहणहेला मन्वतर। इति तिलकाचार्यः, (अ ७३-१)।  
नयोऽथयुदिनः स्वोहो, वृगोमादाय मगवान्, इति तिलकाचार्यः  
(अ. १३-१)  
११. सोतान् गम्मुषमापान, प्रवारितरव यगान्। हाहारवर्तः लोके,  
पेचरे इतवान् द्विम्। इति शीलतरङ्गिणी (अ. ११-१)

इन ग्रन्थों के नामोल्लेख तथा उद्धरणों के अतिरिक्त कई स्थलों पर "इति ऋग्वेदकाण्डे<sup>१</sup>, इति श्रुतिः<sup>२</sup>, इति स्मृतिः<sup>३</sup>, इति आगमः<sup>४</sup>, इत्याचार्याः<sup>५</sup>, यत्तद्व्यं<sup>६</sup>, यद्वैद्या<sup>७</sup>," आदि कहकर उन्होंने प्रचुरमात्रा में उद्धरण अपने टीका-ग्रंथों में दिये हैं।

### उपाध्याय पद

गणि, वाचनाचार्य और उपाध्याय पद उन्हें कब और किसके द्वारा प्राप्त हुये इसका कुछ भी पता नहीं है। इनकी सर्व प्रथम कृति शीलोञ्छनाममाला टीका (र. स १६५४) में

१ अ ७०-२

२ दशमे मामि सूते वं, इति श्रुते (अ. १८३-१)।

३ नवमे दशमे वाऽपि प्रबलं सूतिमाहृतं । निस्मार्यते वाण इव, यन्त्र-  
छिद्रेण सज्ज्वर । इति स्मृतेऽथ ॥ पुत्रान्मो नरकाद् यस्मान्, पितर  
पायते मुत । तत पुत्र इति प्रोक्तं, स्वयमेव स्वयम्भुवा । इति  
स्मृति (अ. ८३-१)।

४ कर्पूरागुग्गुस्नूरी कक्कोलैर्षंक्षकटंम् । एते पिण्डीकृतैर्षंक्षप्रिय  
पद्रुः, सकुट्टु मैरित्यागम । (अ ५०-२)। यदागम —अभिचरन्  
श्येनेन यजेत इति, (अ. ७०-२)।

५ अवेक्षण अवेदा अवधान इत्यर्थ, इत्याचार्याश्च । अतिमर्जनं समपं-  
णमित्यर्थ, इत्याचार्या (अ १८१-१)। यथा एकमेव यरपुमा-  
मुनराज्यमुनाश्रम, इति हम्माहाराचार्या, (अ. १४३-२)

६ यत्तद्व्यम् — उपार्जितानामर्षाना, स्वाग एत्र हि रक्षणम् । तदागो-  
हरमग्गान परीयाह इवाम्भसा । (अ. ९७-२)

७ यद्वैद्या — वृष्णं मोयषंलगुणा ल्यणं गन्धवर्जिते । (अ ८८-१)।

“ श्रीज्ञानविमलपाठक-सत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण । श्रीवल्लभेन  
 रचिता, शीलोञ्छयास्त्रे शुभा टीका ॥ १६ ॥ ” श्रीवल्लभेन  
 पद आता है और द्वितीय रचना शेषसङ्ग्रह दीपिका  
 (र. सं. १६५४ था. कृ. ८) में भी “गुरुणामन्तिपदाऽणुना  
 श्रीवल्लभेन” पद प्राप्त होता है । यही नहीं किन्तु  
 इनके गुरु उ. श्रीज्ञानविमल रचित शब्दप्रभेद वृत्ति में, जो  
 इनके गाढसहायता से पूर्ण हुई थी; ‘अस्मदन्तिपदो . . .  
 विद्वच्छ्रीवल्लभः’ शब्द ही आता है । इनके नाम के साथ  
 में सं. १६५४ तक किसी प्रकार की उपाधि या विशेषण  
 प्राप्त नहीं होता । किन्तु तदनन्तर की समय रचनाओं में  
 गणि और वाचनाचार्य पद का प्रयोग देखने में आता है ।  
 सं. १६५४ के एक वर्ष पश्चात् ही की रचना ‘उपदेश  
 शब्द व्युत्पत्ति’ (र. सं. १६५५) में ‘पण्डितश्रीवल्लभगणि-  
 विरचिता’ उल्लेख है । अतः ममथ है कि सं. १६५४ के  
 अन्त में ही अथवा १६५५ में के प्रारम्भ में ही आपको  
 गणि पद प्राप्त हुआ हो ! पश्चात् अरजिनस्तदवृत्ति में  
 ‘श्रीवल्लभेन गणिना च’ दुर्गपदप्रबोधवृत्ति (र. सं. १६६१)  
 में ‘वाचक’, अनिधान चिन्तामणि नाममात्रा टीका  
 (र. सं. १६६७), विद्वत्प्रयोषकाव्य और गारस्वन मूत्र के  
 केशा पद्य की टीका में क्रमशः ‘तच्छिष्यो वाचनानार्यो  
 यदि श्रीवल्लभः’ ‘वाचनाचार्यधुर्यश्री-श्रीवल्लभगणीश्वरः’  
 तथा ‘वाचनाचार्य’ लिखा प्राप्त होता है ।

उपाध्याय पद का हल्लेख हमें सर्वप्रथम चतुर्दशस्वर-  
 न्यास वादस्थल (र. सं. १६७४ से १६६०) में ‘श्रीवल्लभ

होकर नहीं किन्तु वस्तु-निरूपण की दृष्टि से) अपने ग्रन्थों में उ. धर्मसागर प्ररूपित प्रश्नों को सरलता पूर्वक खण्डन कर स्वगच्छ की आचरणाओं का मण्डन कर रहे थे। इन दोनों गच्छों के विवाद ही नहीं, किन्तु विजयदेवसूरि (जिनके लिये उ. श्रीवल्लभ ने विजयदेवमहात्म्य की रचना की) के समय में तपगच्छ में भी 'विजय' और 'सागर' के विवाद समाज में ऐसे विपले बीजों का दपन कर रहे थे, जिससे समाज का संगठन छिन्न-भिन्न हो जाय। किन्तु तत्कालीन गच्छनायकों की चातुरी से समाज छिन्न-भिन्न तो नहीं हुआ परन्तु दो टुकड़े अवश्य हो गये; जो आज भी मौजूद हैं।

ऐसे विक्षेप के समय में 'वादी' होते हुए भी श्रीवल्लभ का इन प्रपञ्चों में फंसना प्रतीत नहीं होता और न किसी ग्रन्थ में इनका इस विषय में कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है। अतः यह निश्चित है कि श्रीवल्लभ दोनों गच्छों के संघर्ष में तटस्थ ही रहे थे। वे किसी प्रकार के वादों में पड़कर स्वसमय को नष्ट करना नहीं चाहते थे।

जिस समय तपगच्छ के साथ खरतरगच्छ के आचार्यों की प्रशंसा करना तो दूर उनकी कीर्ति का श्रवण करना भी अच्छा नहीं समझते थे और इसी प्रकार खरतरगच्छ के माधु भी तपगच्छ के प्रभाविक पुरषों का कीर्तिगान करने में सकुचाते थे। यद्यपि उ. समयमुन्दरजी ने पार्श्व-

पाठक' पद मिलता है और विजयदेव माहात्म्य (जिसकी रचना अनुमानतः १६८७ के आस-पास हुई थी, जो शायद उनकी अन्तिम रचना थी) में 'श्रीवल्लभोपाध्याय विरचितं' मिलता है। अतः संभव है कि स. १६६७ और १६८७ के मध्य में आचार्य जिनसिंहमूरि ने या आचार्य जिनराजमूरि ने उन्हें यह पद प्रदान किया हो !

साथ ही अभिधान चिन्तामणि नाममाला-वृत्ति की प्रशस्ति में "वादि : श्रीवल्लभ -" शब्द से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्होंने स. १६६७ पूर्व ही कहीं पर किसी विद्वान से शास्त्रार्थ किया और उसे पराजित कर स्वयं ने विजय पताका प्राप्त की हो। अन्यथा हेमे उदारमना महर्षि अपने लिये व्यर्थ की उपाधि का प्रयोग न करते।

### विशालहृदयता

उस समय खरतरगच्छ और तपगच्छ में विधिवाद विषयक विवाद प्रबल वेग से चल रहा था. और उसमें दोनों गच्छों के प्रमुख-प्रमुख व्यक्ति भाग ले रहे थे। इधर तपगच्छ की ओर से उ० घर्मसागर, नेमिसागर, लब्धिसागर और खरतरगच्छ की तरफ से महोपाध्याय धनचन्द्र, महो. माधुलीति उ. जयसोम उ. गुणविनय, मतिकीर्ति आदि लगे हुए थे। यही नहीं किन्तु सर्व गच्छ के माननीय शान्तमना महर्षि उपाध्याय समयसुन्दर जंगे भी (किसी पूर्वाभिनवेश या दुराग्रह के वशीभूत

होकर नहीं किन्तु वस्तु-निरूपण की दृष्टि से) अपने ग्रन्थों में उ. धर्मसागर प्ररूपित प्रश्नों को सरलता पूर्वक खण्डन कर स्वगच्छ की आचरणाओं का मण्डन कर रहे थे। इन दोनों गच्छों के विवाद ही नहीं, किन्तु विजयदेवसूरि (जिनके लिये उ. श्रीवल्लभ ने विजयदेवमहात्म्य की रचना की) के समय में तपगच्छ में भी 'विजय' और 'सागर' के विवाद समाज में ऐसे विपले बीजों का वपन कर रहे थे, जिससे समाज का संगठन छिन्न-भिन्न हो जाय। किन्तु तत्कालीन गच्छनायकों की चातुरी से समाज छिन्न-भिन्न तो नहीं हुआ परन्तु दो टुकड़े अवश्य हो गये; जो आज भी मौजूद हैं।

ऐसे विक्षेप के समय में 'वादी' होते हुए भी श्रीवल्लभ का इन प्रपञ्चों में फंसना प्रतीत नहीं होता और न किसी ग्रन्थ में इनका इन विषय में कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है। अतः यह निश्चित है कि श्रीवल्लभ दोनों गच्छों के संघर्ष में तटस्थ ही रहे थे। वे किसी प्रकार के वादों में पड़कर स्वसमय को नष्ट करना नहीं चाहते थे।

जिस समय तपगच्छ के साधु खरतरगच्छ के आचार्यों की प्रशंसा करना तो दूर उनकी कीर्ति का श्रवण करना भी अच्छा नहीं समझते थे और इसी प्रकार खरतरगच्छ के माधु भी तपगच्छ के प्रभाविक पुरषों का कीर्तिगान करने में सकुचाते थे। यद्यपि उ. समयमुन्दरजी ने पार्श्व-

चन्द्रगच्छीय पूजा ऋषि का गुणवर्णन मुक्तकंठ से किया है तथा खरतर, तपा, अञ्चल इन तीनों गच्छों के आचार्यों का सुललित पद्यों में "भट्टारक तीन भए बड़भागी" कहकर गुणगान किया है; जो तत्कालीन समग्र साहित्य में अपवादरूप ही समझना चाहिए। ऐसे समय में तप-गच्छीय प्रसिद्ध आचार्य विजयदेवसूरिजी महाराज के चारित्रिक गुणों से प्रभावित होकर कवि ने १८ सर्गात्मक विजय-देवमाहात्म्य नामक महाकाव्य की रचना की और इससे अपनी माध्यस्थ्यता, उदारता, विशालहृदयता का परिचय दिया। इसके सम्बन्ध में मुनि जिनविजयजी 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' की प्रस्तावना में लिखते हैं. —

"श्रीवल्लभोपाध्याय की कृतियों में से एक कृति बड़ी ध्यान खींचने लायक है। इसका नाम है विजयदेव-महात्म्य। इसमें तपगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्रीविजयदेव-सूरि का सविस्तर जीवन-चरित्र वर्णन किया गया है। (ध्यान में रहे कि चरित्रनायक और चरित्रलेखक दोनों समकालीन हैं और विजयदेवसूरि अपने महात्म्य के निर्माण के समय में विद्यमान थे।) उस समय परस्पर साम्प्रदायिक विरोध इतना बढ़ा हुआ था कि एक गच्छ वाले दूसरे गच्छ के प्रतिष्ठित व्यक्ति के गुणानुवाद करना तो दूर रहे परन्तु श्रवण में भी मध्यस्थ्यता नहीं दिखा सकते थे। अर्थात् तपागच्छ वाले खरतरगच्छीय व्यक्ति के प्रति अपना बहुमान नहीं दिखा सकते थे और खरतरगच्छानुयायी तपागच्छ के प्रसिद्ध पुरुष की प्रशंसा करने दिल में दुःख

मेनाते थे। ऐसी दशा में, खरतरगच्छीय एक विद्वान् उपाध्याय के द्वारा तपागच्छ के एक आचार्य के गुणगान में बड़ा ग्रन्थ लिखा जाने वाला काम अवश्य आश्चर्य उत्पन्न करता है। समाज को यह विरोधात्मक प्रकृति, श्री वल्लभ पाठक के ध्यान से बहार न थी। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मेरे इन-भिन्न गच्छ के आचार्य की प्रशंसा और स्तवना करने वाले ग्रन्थ के लिखने रूप-कार्य से बहुत से दुराग्रही और स्वसाम्प्रदायिक असन्तुष्ट होकर मुझ पर कटाक्ष करेंगे। इनलिये इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में, संक्षेप में परन्तु असरकारक शब्दों में लिख दिया है कि :—

यदन्यगच्छप्रभवः कविः किं, मुक्त्वा स्वमूरि तपागच्छमूरैः।  
कथं चरित्रं कुरुते पवित्रं, शङ्क्येभ्योऽपि कदापि कार्या ॥

आत्मार्थमिद्धिः किल कस्य नेष्टा.

मा तु स्तुतेरेव महात्मनां म्यात् ।

आभाणकोऽपि प्रथितोऽस्ति लोके,

गङ्गा हि कस्यापि न पतृकीयम् ॥

तस्मान्मया केवलमर्थसिद्धये - जिह्वापवित्रीकरणाय यद्वा ।

इति स्तुतः श्रीविजयादिदेवः, मूरिस्ममं श्रीविजयादिर्महैः ॥

अर्थात् — अन्य (खरतर) गच्छ वाला कवि अपने गच्छ के आचार्य को छोड़कर तपागच्छ के आचार्य का चरित्र कैसे बनाता है, यह शंका विद्वान् मनुष्यों को न जानी चाहिए। क्यों कि आत्ममिद्धि किसे अभीष्ट नहीं



है?—सभी को इष्ट है। यह आत्मसिद्धि महात्माओं की स्तुति द्वारा होती है। और महात्माओं के लिये यह कोई नियम नहीं है कि वे अमुक पंथ या समुदाय में ही उत्पन्न हुआ करते हैं और यह भी कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि अमुक मतानुयायी अमुक ही महात्माओं की स्तवना करे। जैसे गंगा किसी के बाप की नहीं है—सब ही उसके अमृतमय जल का पान कर सकते हैं—वैसे महात्माओ भी किसी के रजिष्टर्ड नहीं किये हुए हैं, सब ही मनुष्य अपनी अपनी इच्छानुसार उनके गुणगान कर अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसलिये मंने-खरतर-गच्छानुयायी होकर भी—अपनी जिह्वा को पवित्र करने के लिये तपागच्छ के महात्मा श्रीविजयदेवसूरि और (उनके शिष्य) विजयसिंहसूरि का यह पवित्र चरित्र लिखा है। इस विषय में किसी को उद्वेगजनक विकल्प करने की जरूरत नहीं है। वाह! कैसी उदार दृष्टि और गुणानुराग!। यदि केवल इन ही ३ पद्यों का स्मरण और मनन हमारा आधुनिक जैन-समाज करे तो थोड़े ही दिनों में वह उन्नति के शिखर पर आरूढ हो सकता है। शामनदेव वह दिन शीघ्र दिखावें। (पृ. ८२-८४)''

इनके उदारहृदय का परिचय देने वाली एक घटना और हुई। श्वेताम्बर जैनों में एक गच्छ है जिसका नाम है उपवेश। श्रीवल्लभजी के समकालीन उपवेशगच्छनायक श्रीमिद्धसूरि ने चाहा कि 'उनके गच्छ के नाम की एक गुन्दर व्युत्पत्ति हो जाय।' इस काम के लिये उन्होंने

श्रीवल्लभजी से आग्रह किया । इस पर उन्होंने उनके आग्रह को स्वीकार कर “ओकेश-उपकेश-पद-दशार्थी” की सं. १६५५ मे विक्रमनगर (बीकानेर) में बड़े विलक्षण ढंग से रचना की । इससे भी स्पष्ट है कि इनके हृदय में साम्प्रदायिक भावों का लवलेश भी नहीं था, अपितु वे सहृदय उदार थे ।

### विहार और शिष्यपरम्परा

इनके ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका बाल्यजीवन और प्रौढावस्था का समय राजस्थान में ही व्यतीत हुआ है । किन्तु विजयदेव महात्म्य को देखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि कवि वृद्धावस्था में ‘गुर्जर’ देश पहुँचे और वही पर विजयदेव के चारित्र और तप से आकृष्ट होकर विजयदेव महात्म्य की रचना की । इसलिये बहुत संभव है कि उनकी वृद्धावस्था वही पूर्ण हुई हो, और उनका स्वर्गवास भी उसी प्रदेश में हुआ हो ।

सब से बड़ी आश्चर्य की वस्तु यह है कि कवि की परम्परा चली हो—ऐसा प्रतीत नहीं होता, और न इस सम्बन्ध में किन्ही प्रकार के उल्लेख ही मिलते हैं । अथवा उनके स्वयं के शिष्य हों तो भी यह निश्चित है कि इनकी परम्परा दीर्घकाल तक नहीं चली अन्यथा उनमें से कोई तो विद्वान आदि भी होता जिनका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता ।

## साहित्य — सर्जना

उपाध्याय श्रीवल्लभ का अरजिनस्तव उनके अनेक ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे जिन में से कुल मिलाकर छोटे-मोटे १४ ग्रन्थ अबतक उपलब्ध हो चुके हैं। इनमें से ५ तो मौलिक कृतियाँ हैं और अन्य व्याकरण एवं कोषों पर टीकाएँ। चाहे इनके काव्यों को देखिए अथवा टीका ग्रन्थों को, प्रत्येक पृष्ठ पर लेखक का प्रकाण्ड-पाण्डित्य और सौजन्यपूर्ण औदार्य प्रस्फुटित हो रहा है। सब रचनाओं का तो पूर्ण परिचय करवाना यहाँ संभव नहीं है, केवल उनका संक्षिप्त परिचय मात्र यहाँ दिया जा रहा है जो, मेरी समझ में, लेखक की प्रतिभा और निपुणता को प्रकाशित करने के लिये बहुत कुछ पर्याप्त है।

### मौलिक-ग्रन्थ

#### विजयदेवमाहात्म्य-महाकाव्य

१७वीं शती के तपगच्छ साम्राज्य के अधिपति आचार्य विजयदेवसूरि के माहात्म्य का वर्णन होने से इस महाकाव्य का नाम भी विजयदेव माहात्म्य महाकाव्य रखा गया<sup>१</sup>। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार महाकाव्य के जो लक्षण पृष्ठ परिच्छेद में विद्यनाथ ने दिये हैं उन लक्षणों

१. विजयदेवसूरीणा, माहात्म्य अधिकां गदा ॥ २ ॥

विजयदेवमाहात्म्य, वर्ण्यतेऽत्र यतोऽद्भुतम् ।

विजयदेवमाहात्म्य, नामकाव्य तत्र स्मृतम् ॥ ३ ॥

से तुलना करने पर यह 'महात्म्य' भी महाकाव्य की कोटि में आता है। इसके नायक, विजयदेवसूरि धीरोदात्त और देवत्व गुण से परिपूर्ण हैं। इसमें शान्तरस मुख्य है। इसका कथानक महात्मा के जीवन-चरित पर आश्रित है और तत्कालीन परिस्थितियों का सांगोपाङ्ग वर्णन होने से ऐतिहासिक भी है। इसमें धर्मफल की प्रधानता है। आदि में नमस्कार और कथानक-वस्तु का निर्देश भी है। इसमें १६ सर्ग हैं, सर्गस्थ श्लोकों की संख्या मध्यम है, हाँ, नवम सर्ग के श्लोकों की संख्या अन्य सर्गों की अपेक्षा अधिक है। इसमें ३६६ पद्य हैं। प्रत्येक सर्ग एक ही छन्द में अनुस्यूत है, तथा अन्तिम वृत्त अन्य छन्द में ग्रथित है। इसमें कई स्थलों पर 'सागर<sup>२</sup>' आदि श्लोकों की निन्दा और महापुरुषों का गुणगान भी किया गया है। प्रमङ्गोपात पुत्र जन्म, विवाह (दीक्षा), मुनि, स्वर्ग, सूर्य, चन्द्र, मागर आदि का वर्णन भी है। स्थान-स्थान पर अनुप्रास, श्लेष, यमक, वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, विरोध, उपमा, रूपक आदि अलंकारों का इसमें अच्छा समावेश किया है। अतः यह काव्य केवल महात्म्य ही नहीं है किन्तु लक्षणसिद्ध घटना बहुल महाकाव्य है।

इनका रचना समय अज्ञात है। महाकवि ने प्रशस्ति में इनका कोई उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इस महात्म्य का आलोडन करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता

२. देव, एरादन गण

है कि इसकी रचना सं. १६८७ के पश्चात् ही कवि ने की है। इसका आधार यह है कि कवि चरितनायक के जन्म काल १६३४ से लेकर १६८७ तक की क्रमवद्ध घटनाओं का वर्णन सांगोपाङ्ग करता है। नायक का देहावसान १७१३ में हुआ है। कवि उनके देहावसान का तो क्या, किन्तु चरितनायक के १६८० के बाद दक्षिण देश में पधारने और काफी समय तक इस प्रदेश में विचरण करने का उल्लेख भी नहीं करता। १६८४ में विजयदेव-सूरि ने विजयसिंहसूरि को भट्टारक पद दिया और १६८६ में स्वर्णगिरि (जालोर) में प्रतिष्ठा करवायी<sup>१</sup>। स. १६८७ में मेदिनीतट<sup>२</sup> (वर्तमान-मेड़ता सिटी) में प्रतिष्ठा करवाई और उसके पश्चात् करवाया गंगाणी<sup>३</sup> तीर्थ का जीर्णोद्धार। इसके पश्चात् काव्य में कोई जीवन की उल्लेखनीय घटना नहीं है,— किन्तु जहाँगीर पर प्रभाव, तपवर्णन, चारित्र्यवर्णन, और गुणवर्णनों में ही आगे के सर्ग पूर्ण किये गये हैं। इसमें एक और घटना का उल्लेख है

१. षोडशस्य शतस्यास्मिन्, षडशीतितमेऽधके।

प्रथमाणाडपञ्चमस्य, कृष्णे पञ्चमवानरे ॥ १६ ॥

प्रथ्यनिष्ठ गिनेन्द्राणां, प्रतिमा प्रतिमाप्रिमा।

विजयदेवसूरीन्द्रः श्री जावालपुरेवरे ॥ १७ ॥ त्रयोदश सर्ग ।

२. षोडशस्य शतस्यास्मिन्, गण्नाशीतितमेऽधके।

प्रतिमाना प्रतिष्ठाऽभूदेव श्रीमेदिनीतटे ॥ ७२ ॥ १३ स.

३. देखें, १४ वां सर्ग

मेषजी<sup>१</sup> आदि मुख्य श्रावकवर्ग ने 'सागरमत' का त्याग कर, पुनः गुरु से वासक्षेप प्राप्त कर बोधिलाम उपार्जन किया। इसका भी समय अवचूरिकार<sup>२</sup> ने सं. १६८७ दिया है। अतः यह अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है कि इसकी रचना १६८७ ने अन्त में ही हुई है। अन्यथा १६८८ की भी कोई घटना का उल्लेख अवश्य किया जाता।

कवि ने काव्य के प्रथम और द्वितीय मार्ग में चरितनायक का जन्म, विद्याभ्यास, वैवाहिक बन्धनों को न स्वीकार कर ब्रह्मचारी रहने की अत्युत्कट अभिलाषा और संयम के प्रति आकर्षण का वर्णन किया है। ३-४ मार्ग में आचार्य हीरविजयमूरि का प्रभाव वर्णन और विजयमेनमूरि का जीवन-चरित है। ५-७ सर्गों माता सहित चरितनायक की दीक्षा, शारदाभ्यास, विजयमेनमूरि के गाय मध्याह्न अकवर में मिलाप तथा चरितनायक के गण और आचार्य पद प्राप्ति का वर्णन किया गया है। ८ वें मार्ग में कनकविजयादि शिष्यों का और ९-१० में प्रतिष्ठा, चातुर्मास, दीक्षाप्रदान और विजयसिंहमूरि को स्व पट्ट पर अभिषिक्त करने का वर्णन मिलता है। ११ वें में 'सागरपक्षीय' प्रतिवादियों को पराजित करने का उल्लेख है। १२-१४ में पाली नवलक्ष प्रनाद पारवनाय,

१. गणगीय श्रुत स्वयंवा, मेषाद्या श्राद्ध मृत्युः।

बोधि प्राप्ता गुरो रेव, पाण्डोपनशारवन् ॥ ११.७ ॥ १ म

२. x x x १६८० वर्षे यन्मनत्रपिं नरनागरीयं मनं ग्यवन्ता मा.

मेषाद्याः बह्वः श्रावनाः x x x देखें. पृष्ठ १२६

विद्वत्प्रबोधनामायं, ग्रन्थो विद्वत्प्रबोधकृत् ।

स्फूर्जच्छी बलभद्रे, श्रीबलभद्रपुरे वरे ॥ २ ॥

विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टायां, संजतायां प्रयोजनम् ।

एतद्ग्रन्थस्य मेधाव्यभिमानोन्मथनाय वै ॥ ३ ॥

संयोगिवर्णं निगृणाति विद्वान्, योऽयं तमादौ च विधाय विद्वान् ।

दिव्येषु पादेषु चतुर्विंशद्भ्यः, सद्यः मुपद्य विदधातु हृद्यम् ॥४॥

इसमें तीन परिच्छेद हैं और प्रत्येक में क्रमशः ५६, ६० तथा २१ पद्य हैं । प्रथम परिच्छेद में चतुष्पादधारी गज, अश्व, वृषभ, सिंह और उष्ट्र का वर्णन है । द्वितीय परिच्छेद में द्विपदधारी शुक, तित्तिरि, हंस, बक, चक्रवाक, मारुत, टिट्ठिभ, मयूर और चाप पक्षियों का वर्णन है तथा तृतीय परिच्छेद में माधु, पण्डित और वीर का संयोगि वर्णों को ग्रहण कर वर्णन किया है ।

संयुक्त वर्णों के आधार पर इन प्रकार की विद्वतापूर्ण रचना जैन-साहित्य में ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य में भी इनी-गिनी ही प्राप्त हैं । उस दृष्टि में यह काव्य कवि की ऊज्वल कविता को भारतीय वादमय में अमर रखने के लिये परोक्ष है । यह काव्य जिनदत्तमूरि ज्ञान भण्डार मूरत द्वारा महावीर श्लोत्र के साथ प्रकाशित हो चुका है ।

### चतुर्विंशस्वरस्यापनवादस्यल

इस ग्रन्थ में मारस्वत व्याकरण में उल्लिखित १४ चौदह स्वरों की स्थापना की गई है । किन्ती 'कूर्वाण मरस्वनीविरदं मन्वमान' प्रतिवादी ने पाच विकल्पों के

जालोर, मेडता आदि प्रतिष्ठाओं का विशद वर्णन तथा तथा गंगाणी तीर्थ के जीर्णोद्धार का प्रसंग कवि ने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। १६ में तपवर्णन, १७ वें में स्तम्भतीर्थ चातुर्मास वर्णन, १८ वें में सम्राट् जहाँगीर पर प्रभाव और महातपा विरुद्ध प्राप्ति तथा सागर पराजय का वर्णन है और १९ वें सर्ग में नायक के औदार्यादि गुणों का व्याख्यान है।

यह कवि की अन्तिम रचना है। इसके पश्चात् की कोई भी कृति प्राप्त नहीं होती है। इस काव्य के ऊपर सम सामयिक प्रसिद्ध साहित्यकार उपाध्याय श्रीमेष-विजयजी प्रणीत अवचूरि प्राप्त है। इस काव्य की दो सुन्दर प्रतिर्या जयचन्द्रजी भण्डार बीकानेर व हरिसागरभूरि भण्डार लोहावट में है।

### विद्वत्प्रबोध

काव्य के अन्त में निर्माण काल का उल्लेख न होने से समयनिर्धारण नहीं किया जा सकता। किन्तु यह रचना अत्यन्त प्रौढ, विद्विष्ट एवं पाण्डित्य पूर्ण होने के कारण सं. १६६० के पश्चात् की ही लगती है। इसकी रचना चल्दभद्रपुर (शभव है उसे ही आज-काल 'वाल्मीकरा' कहते हैं, जो जोधपुर स्टेट में पचासरा परगने में है) में श्रीचल्दभद्र की विद्विष्ट विद्वद्गोष्ठी में प्रयोजन उपस्थित होने पर मेषाकियों के अभिमान को मथन करने के लिये की गई है :—



विद्वत्प्रबोधनामायं, ग्रन्थो विद्वत्प्रबोधकृत् ।

स्फूर्जच्छी बलभद्रे, श्रीबलभद्रपुरे वरे ॥ २ ॥

विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टायां, संजतायां प्रयोजनन् ।

एतद्ग्रन्थस्य मेधाव्यभिमानोन्मथनाय वै ॥ ३ ॥

सयोगिवर्णं निगृणाति विद्वान्, योऽयं तमादी च विधाय विद्वान् ।

दिव्येषु पादेषु चतुर्वंशङ्कः, सद्यः सुपद्यं विदधातु हृद्यम् ॥४॥

इसमें तीन परिच्छेद हैं और प्रत्येक में क्रमशः ५६, ६० तथा २१ पद्य हैं । प्रथम परिच्छेद में चतुष्पादधारी गज, अश्व, वृषभ, सिंह और उष्ट्र का वर्णन है । द्वितीय परिच्छेद में द्विपदधारी शुक, तित्तिरि, हंस, वक, चक्रवाक, मारस, टिट्ठिभ, मयूर और चाप पक्षियों का वर्णन है तथा तृतीय परिच्छेद में साधु, पण्डित और वीर का मयोगि वर्णों को ग्रहण कर वर्णन किया है ।

संयुक्त वर्णों के आधार पर इस प्रकार की विद्वतापूर्ण रचना जैन-साहित्य में ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य में भी इनी-गिनी ही प्राप्त है । इस दृष्टि से यह काव्य कवि की ऊज्वल कीर्ति को भारतीय वाङ्मय में अमर रखने के लिये पर्याप्त है । यह काव्य जिनदत्तमूरि ज्ञान भण्डार मूरत द्वारा महावीर स्तोत्र के गाय प्रकाशित हो चुका है ।

### चतुर्वंशस्वरस्थापनवादस्यल

इस ग्रन्थ में मारस्वत व्याकरण में उल्लिखित १४ चौदह स्वरों की स्थापना की गई है । किसी 'कूर्वाण गरस्यतीविरदं मन्थमान' प्रतिवादी ने पांच विकल्पों के

मुस्तिका से ज्ञात नहीं होता । यह रचना श्रीजिनराजसूरि<sup>१</sup>के राज्य में हुई है, एवं इसमें अपने लिये कवि ने उपाध्याय पद का उपयोग किया है । अतः यह रचना सं. १६७४ के पश्चात् की है । यह वादस्थल बहुत ही छोटा है । इसकी प्रेसकॉपी मेरे संग्रह में है ।

अभिधान चिन्तामणि नाममाला टीका की प्रशस्ति में कवि के नाम के साथ 'वादी श्रीवल्लभः' वादी विशेषण का प्रयोग देखने में आता है । अतः यह स्पष्ट है कि सं. १६६७ के पूर्व में ही आपने किसी वादी के साथ शास्त्रार्थ कर उसे पराजित कर विजयलक्ष्मी प्राप्त कर आने लिये 'वादी' विशेषण का उपयोग किया हो और सं. १६७४ के पश्चात् यह १४ स्वरों विषयक वाद दूसरी बार हुआ हो ।

### उपकेशशब्दव्युत्पत्ति

सं. १६५५में विक्रमनगर (बीकानेर) में उपकेशगच्छीय कुमुदाचार्य सन्तानीय श्रीनिद्धसूरि के आग्रह से उदारता पूर्वक ओकेश और उपकेश इन दोनों शब्दों के ५-५ अर्थ व्युत्पत्ति प्रदर्शन पूर्वक बहुत ही सुन्दर पद्धति से लिखे हैं :—

"सं. १६५५वर्षे श्रीमद्विक्रमनगरे सकलवादिबृन्दकन्द-  
कुमुदालकुमुदाचार्यसन्तानीय श्रीगच्छीसिद्धसूरीश्वराणामाग्रहतः  
श्रीमद्व्यूहलारतरगच्छीय वाचनाचार्यधुयंश्रीज्ञानविमल-

१. श्रीजिनराजसूरिन्ने, धर्मराज्यं विधातरि ।

अस्मिन् एतरे गच्छे, धर्मराज्यं विधातरि ॥ १ ॥

इस में अपने लिये श्रीवल्लभ ने "श्रीवल्लभेन गणिना" गणि शब्द का प्रयोग किया है। उपाध्याय पद प्रकरण में हम देख चुके हैं कि स. १६५५ में आप को गणि पद प्राप्त हुआ था; सं. १६५४ तक तो आप केवल मुनि श्रीवल्लभ ही थे। अतः इस की रचना १६५५ के बाद की ही है। और दूसरी बात, 'श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधान-सूरिष्वधीनेषु' श्रीजिनचन्द्रमूरि के विजय राज्य में आता है। आचार्य जिनचन्द्र का १६७० में स्वर्गवास हुआ था, अतः १६५५ और १६७० के मध्यकाल में इस की रचना हुई है, स्पष्ट है। साथ ही यह मानना भी अनुपयुक्त न होगा कि मूल और टीका की रचना माथ-माथ ही हुई है।

यह लेखक के प्रौढ़ावस्था की रचना है; अतः इस की नापा भी बहुत ही प्राञ्जल और प्रवाहपूर्ण है। इस मंत्र में लेखक को अनिष्ट और अप्रचलित शब्दों को खारगभित करने के लिये जिम योजना-कौशल और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह इसमें पूर्णरूपेण विद्यमान है। जहाँ १००० रकार प्रधान काव्य की रचना करना हो, वहाँ उस काव्य में प्रायः अधिक शब्द तो अप्रसिद्ध ही प्रयुक्त होते हैं उन्हें सिद्ध करने के लिये उणादिमूत्र और अनेकार्थी तथा एकाक्षरी नाममालाओं का आश्रय लेना पड़ता है। टीकाकार ने भी इसमें हेमव्याकरण, उणादिमूत्र, घातु-पारायण, कविकल्पद्रुम, अनेकार्यनाममाला, मौनरि, गुधा-फलन, विश्वगंभु, ध्वनिमञ्जरी आदि एकाक्षरी नाममालाओं

गणिशिष्य पण्डित श्रीवल्लभगणिविरचिता ओकेश-उपकेश-  
पदद्वयदशार्थी समाप्ता ।”

उपकेशशब्दव्युत्पत्ति की प्रायः प्रत्येक प्रतियों के साथ  
में ही “खरतरशब्दव्युत्पत्ति” भी लिखी हुई प्राप्त होती  
है । संभव है यह कृति भी आपकी ही हो ।

### टीका-ग्रन्थ

#### अरजिनस्तववृत्तिः

अरजिनस्तव पर ही आप की यह स्वोपज्ञ टीका है ।  
सहस्रदलात्मक इस चित्रकाव्य पर आप की यह टीका न  
होती तो इस की मामिकता समझने में काफी असुविधाएँ  
रहती । इस टीका का निर्माण काल लेखक ने प्रशस्ति में  
नहीं दिया है, फिर भी प्रशस्ति से कुछ अनुमान किया  
जा सकता है.—

खरतरगणजल्पिममुल्यासनरजनीपतिप्रकाराणाम् ।

नघ्रानेकनराणां, श्रीजिनभाषिष्यमूरीणाम् ॥ १ ॥

पट्टे वरे[र्ध]विजयिषु, कुम्भिलताघ्रातनाशनहिमेषु ।

श्रीमच्छ्रीजिनधन्वाभिधानमूरिष्वधीशेषु ॥ २ ॥

येषा स्फुरत्प्रतापाधिकयजिनः गन् निरन्तरं भानुः ।

भ्रमतिनमांधियन्ति हि ते, शानदिमल्लयाचका नन्दुः ॥ ३ ॥

गन्पादाभ्युजमधुकरशिष्यधोवत्सभेन गणिना वै ।

विरचिता ग्न्ववृत्तिरिय, यदन्तमिह तद्युधः शोध्यम् ॥ ४ ॥

इस में अपने लिये श्रीवल्लभ ने "श्रीवल्लभेन गणिना" गणि शब्द का प्रयोग किया है। उपाध्याय पद प्रकरण में हम देख चुके हैं कि सं. १६५५ में आप को गणि पद प्राप्त हुआ था; सं. १६५४ तक तो आप केवल मुनि श्रीवल्लभ ही थे। अतः इस की रचना १६५५ के बाद की ही है। और दूसरी बात, 'श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधान-सूरिष्वधीनेषु' श्रीजिनचन्द्रसूरि के विजय राज्य में आता है। आचार्य जिनचन्द्र का १६७० में स्वर्गवास हुआ था, अतः १६५५ और १६७० के मध्यकाल में इस की रचना हुई है, स्पष्ट है। साथ ही यह मानना भी अनुपयुक्त न होगा कि मूल और टीका की रचना साथ-साथ ही हुई है।

यह लेखक के प्रौढ़ावस्था की रचना है; अतः इस की नापा भी बहुत ही प्राञ्जल और प्रवाहपूर्ण है। इस मन्त्र में लेखक को अनिष्पन्न और अप्रचलित शब्दों को स्वारगभित करने के लिये जिम योजना-कौशल और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह इसमें पूर्णरूपेण विद्यमान है। जहाँ १००० स्वार प्रधान काव्य की रचना करना हो, वहाँ उस काव्य में प्रायः अधिक शब्द तो अप्रतिष्ठ ही प्रयुक्त होते हैं उन्हें सिद्ध करने के लिये उणादिनूत्र और अनेकार्थी तथा एकाक्षरी नाममालाओं का आश्रय लेना पड़ता है। टीकाकार ने भी इनमें हैमव्याकरण, उणादिनूत्र, धातु-पारायण, कविकल्पद्रुम, अनेकार्थनाममाला, मौमरि, सुधा-पल्लव, विश्वशंभु, ध्वनिमञ्जरी आदि एकाक्षरी नाममालाओं

के आधार पर ही शब्दों की निष्पत्ति की है । उदाहरण के लिये देखिए :—

पद्य ४१ में 'कठोरकालूरविदारसायुः' पद की व्याख्या—

“कठोरकालूरविदारसायु ” कठोरं—दृढ कं—दु.सं येषां ते कठोरकाः, “क शिर क सुसं तोयं, पयो दु.सं” [सौ. ए. २०] इत्युक्तेः, कठोरकाश्च ते आलूराश्च-विटाः कठोरकालूरास्तेषां विगतो दारः—भयं यस्मात् स कठोरकालूरविदारः, आलूरशब्द उणादिविटवाची, सायाः—लक्ष्म्याः आयुः—जीवनं यस्मात् सायुः, द्वाभ्यां कर्मधारये कठोरकालूरविदारसायुः, “ ईण्क् गतौ ” “ कृवापाजिस्वदिसाध्यशौदृस्नामनिजानिरहीण्भ्य उण् ” [सि हे. उ मू. १] इति मूत्रेण उण् प्रत्यये आयुरिति, “ पुरपः शफट औपघ जीवन पुरखवः पुत्रो वा ” इति आकारः पादपूरणार्थं ॥१४॥

इसी प्रकार पद्य ४१ के कुछ अंशों का रमास्वादन करिए .—

. . . श्री अरनाथजिन. 'गमरणनीरधिनीर' गमरणं-गमारः “ गमरणं त्वसाम्बाधनमूगनी । गमारे ” [अने. सं. का. ३ श्लो १४६२-६४] इति हेमानेकार्थोक्तेः, गमरणमेवनीरधिः—गमारगानर., नीरशब्दो जलवाची औणादिकः, मग्न नीर-प्राण तट वा गमरणनीरधिनीरं 'पस्पार' प्राणवान्, “ स्फुर स्फुरन् स्फुरणे, पठने [इत्येके] ” इति धातुसामान्यवधनाद्, गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वान् परोक्षायां णधि

रूपम् । किम्भूतः [सुथ्रीः] ? , इत्वरनोद्धारपुष्करमुसूरविदार-  
जित्वरः " इण्क् गती " जानार्योऽत्र, यत्नीत्येवंशीलाः "सृजी-  
ण्णशष्ट्वरप्" [सि. हे. ५-२-७७] इत्यनेन ट्वरपि  
इत्तराः-पण्डिताः नाः नराः, "नो नरे च सनाथेऽपि"  
[वि. ए. ७६] इति विश्वयाम्भूक्तेः, तेषां उद्धारः-उद्धरणं  
संसारपातादिति येषां ते नोद्धारः, इत्तराश्च ते नोद्धारश्च  
इत्वरनोद्धारः, त एव पुष्कराणि-पद्मानि तेषां विफासेन  
मुसूर इव-प्रधानभानुरिव योऽसौ इत्वरनोद्धारपुष्करमुसूरः,  
विदारे-सङ्ग्रामे "विदारो युधि" [अने सं. का. ३ श्लो.  
१२०३] इति वचनप्रामाण्यात्, शत्रून् जयतीत्येवंशीलः  
"सृजीण्णशष्ट्वरप्" [सि. हे. ५-२-७७] इति  
ट्वरपि विदारः, इत्वरनोद्धारपुष्करमुसूरश्चासौ विदार-  
जित्वरश्चेति कर्मधारये इत्वरनोद्धारपुष्करमुसूरविदार-  
जित्वरः । पुनः किम्भूतः सुथ्रीः ? 'अकन्तुः' निष्कामः,  
"कन्तुः कामकुमूलयोः" [अने. सं. कां. २ श्लो. १७५]  
इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतः सुथ्रीः ? 'रपकीः' "रप भाषणे"  
अकचि रपन्ति-भाषन्ते स्याद्वादमिति रपकास्तान् अवति-  
रक्षति योऽपी तथा ।"

### शिलोष्टनाममाला-वृत्ति

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्रीहेमचन्द्राचार्यं प्रणीत  
अभिधानचिन्तामणिनाममाला की 'शिलोष्ट' करने की

दिवस मूलार्क में नागपुर (वर्तमान-नागौर) में टीका की रचना पूर्ण की। इसका ग्रंथमान १३०० श्लोक परिमाण है। संभव है इस टीका का प्रारम्भ फलवर्द्धिपादर्चनाथ (मेड़तारीड) में किया हो, कारण कि मङ्गलाचारण में 'श्रीमच्छ्रीफलवर्द्धिकाभिषपुरी' स्थित 'पादर्चनाथ' को नमस्कार किया है। जैसा कि प्रशस्ति से स्पष्ट है:—

श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण ।  
 श्रीवल्लभेन रचिता शिलोञ्छशाम्भ्रे शुभा टीका ॥१६॥  
 हैमव्याकृति-हैमोणादिग्रंथादिनामकोशाश्च ।  
 दृष्ट्वा विमृश्य घाढं, प्रमादमासाद्यपूज्यानाम् ॥२०॥  
 वेदेन्द्रियरमपृथ्वीसहस्रये वर्षेसु नागपुरनगरे ।  
 मधुमानाद्ये पक्षे मूलार्के मप्तमीतिथ्याम् ॥ २१ ॥

\* \* \*

त्रयोदशशतान्येवं, ग्रन्थमान विनिश्चितम् ।  
 अस्याः शिलोञ्छटीकायाः, अनुमित्या कृतं शुभम् ॥ २२ ॥  
 यह आप की सर्वप्रथम टीकाकृति है ।

### शेषसंग्रह दीपिका

अभिधानचिन्तानपिनाममाला में कथित शब्दों के अतिरिक्त शब्दों का संग्रह आचार्य हेमचन्द्र ने 'शेषसंग्रह-नाममाला' के रूप में किया। इन की टीका 'दीपिका' के नाम से, हैमव्याकरण, हैमोणादि, घातुगारायण, विश्व-कोष, अनेकार्यकोष, वंजयन्ती, वाचस्पति, मातृण्डेयपुराण आदि ग्रन्थों का अदलोचन कर, सं. १६५४ श्रावण शुक्ल



अष्टमी को बीकानेर में, नृपति श्रीरायसिंहजी के विजय राज्य में, १६०० ग्रन्थ परिमाण रचना पूर्ण की :—

तेषां दिव्यातकीर्त्तीणां, गुरूणामन्तिपदाऽणुना ।  
 कृता श्रीवल्लभेनेयं, शेषसंग्रहदीपिका ॥ १८ ॥  
 हेमव्याकरणोणादिधातुपारायणानि च ।  
 विश्वकोपाद्यनेकार्यनामकोशकदम्बकम् ॥ १९ ॥  
 वर्षे सतानन्दमुखेन्द्रियेशपुत्राननावजप्रमिते वरिष्ठे ।  
 अष्टम्यहे मासि नभस्य कृष्णे श्रेष्ठे पुरे विक्रमनामधेये ॥२०॥  
 श्रीविक्रमवशोद्भवमद्विक्रमराजसिंहनृपराज्ये ।  
 सल्लोककोकसम्मदविधानभानू परे रम्ये ॥ २१ ॥

अभिधानचिन्तामणिनामनाल - सारोद्धार - टीका

आपने आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत अभिधानचिन्तामणि-  
 नागमाला पर सं १६६७ में, जोधपुर में, महाराजा  
 श्रीनूरसिंहजी के राज्यव्यवहार में 'सारोद्धार' नामक विस्तृत  
 टीका की रचना पूर्ण की :—

तथा जोधपुरद्वन्द्वे, नूरसिंहनरेनितु ।  
 राज्ये च बलारे मत्पापष्टिपट्चन्द्रमम्मिगे ॥ ७ ॥

मच्छिन्दो वापनाचार्यो वादी श्रीमच्छिन्दोऽहम् ।  
 श्रीमच्छिन्दोऽहम्, नाम्नां सारोद्धारिणाम् ॥ ११ ॥  
 श्रीमच्छिन्दोऽहम्, नाम्नां सारोद्धारिणाम् ।  
 श्रीमच्छिन्दोऽहम्, नाम्नां सारोद्धारिणाम् ।

सूत्रवृत्यो सहस्राणि, नवपञ्चशतानि च ।  
ग्रन्थमानमिह ज्ञेयं, सर्वमेवं विचक्षणैः ॥१८॥

यह टीका बहुत ही प्रौढ और विशाल है । इसमें टीकाकार ने शब्दों के पर्याय मात्र देने के चक्कर में न फंसकर विशिष्ट शब्दों की सिद्धि और व्युत्पत्ति तथा भूरिशः ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा टीका को स्पष्ट और सरस बनाने का प्रयत्न किया है । इस टीका में उद्धरणों की अत्यधिक बहुलता है जो सामान्य-विद्वान् के अधिकार की वस्तु नहीं किन्तु प्रौढ-प्रतिभाशाली के निपुणता की द्योतक है । व्याख्या में लगभग एकसौ सत्तर ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, वे भी एक दो नहीं किन्तु प्रचुर परिमाण में । साथ ही इसकी एक विशेषता यह भी है कि संस्कृत शब्दों का व्यवहार देश्यशब्दों में किस प्रकार होता है इसको दिखलाने के लिये उन्होंने प्रायः "इति भाषा" कहकर राजस्थानी भाषा के घरेलू और साहित्यिक लगभग २५०० शब्दों का प्रयोग किया है, जो राजस्थानी भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । भविष्य में यदि संभव हो सका तो श्रीवल्लभजी के टीका-ग्रन्थों में उद्धृत सम्पूर्ण राजस्थानी शब्द कोष तैयार कर साहित्य-मनीषियों की सेवा में रखने का प्रयत्न करूँगा ।

कही कहीं किसी शब्द की व्युत्पत्ति की मान्यता में और साधना में अन्तर है वही व्याख्याकार ने कई वैयाकरणों एवं कोषों द्वारा अपने मत को सिद्ध करने

अष्टमी को वीकानेर में, नृपति श्रीरायसिंहजी के विजय राज्य में, १६०० ग्रन्थ परिमाण रचना पूर्ण की :—

तेषां विख्यातकीर्त्तीणां, गुरुणामन्तिपदाऽणुना ।  
 कृता श्रीवल्लभेनेयं, शेषसंग्रहदीपिका ॥ १८ ॥  
 हेमव्याकरणोणादिधातुपारायणानि च ।  
 विश्वकोपाद्यनेकार्थनामकोशकदम्बकम् ॥ १९ ॥  
 वर्षे शतानन्दमुखेन्द्रियेशपुत्राननावजप्रमिते वरिष्ठे ।  
 अष्टम्यहे मासि नभस्य कृष्णे श्रेष्ठे पुरे विक्रमनामधेये ॥२०॥  
 श्रीविक्रमवज्रोद्भवसद्विक्रमराजसिंहनृपराज्ये ।  
 सल्लोककोकसम्मदविधानभानू परे रम्ये ॥ २१ ॥

अभिधानचिन्तामणिनाममाला - सारोद्धार - टीका

आपने आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत अभिधानचिन्तामणि-  
 नाममाला पर स १६६७ में, जोधपुर में, महाराजा  
 श्रीशूरसिंहजी के राज्यत्वकाल में 'सारोद्धार' नामक विस्तृत  
 टीका की रचना पूर्ण की :—

तथा जोधपुरद्रङ्गे, सूरसिंहनरेशितुः ।  
 राज्ये च वत्सरे सप्तापष्टिपट्चन्द्रमम्मिते ॥ ७ ॥

तच्छिष्यो वाचनाचार्यो वादी श्रीवल्लभोऽद्भुतम् ।  
 श्रीहेमनाममालाया, नाम्नां सारोद्भूतिशुभाम् ॥ ११ ॥  
 हेमव्याकरणोणादिपाणिनीयादिक भूषणम् ।  
 दृष्ट्यर्थयोऽत्रोद्यमश्च त्रे, नामकोशाश्च भूषणः ॥ १२ ॥

मूत्रवृत्त्यो सहस्राणि, नवपञ्चशतानि च ।

ग्रन्थमानमिह श्रेयं, सर्वमेव विचक्षणैः ॥१८॥

यह टीका बहुत ही प्रौढ और विशाल है । इसमें टीकाकार ने शब्दों के पर्याय मात्र देने के चक्कर में न फंसकर विशिष्ट शब्दों की सिद्धि और व्युत्पत्ति तथा भूरिश' ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा टीका को स्पष्ट और सरस बनाने का प्रयत्न किया है । इस टीका में उद्धरणों की अत्यधिक बहुलता है जो सामान्य-विद्वान् के अधिकार की वस्तु नहीं किन्तु प्रौढ-प्रतिभाशाली के निपुणता की द्योतक है । व्याख्या में लगभग एकसौ सत्तर ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, वे भी एक दो नहीं किन्तु प्रचुर परिमाण में । साथ ही इसकी एक विशेषता यह भी है कि संस्कृत शब्दों का व्यवहार देश्यशब्दों में किस प्रकार होता है उसको दिखलाने के लिये उन्होने प्रायः "इति भाषा" कहकर राजस्थानी भाषा के घरेलू और साहित्यिक लगभग २५०० शब्दों का प्रयोग किया है, जो राजस्थानी भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है । भविष्य में यदि संभव हो सका तो श्रीवल्लभजी के टीका-ग्रन्थों में उद्धृत सम्पूर्ण राजस्थानी शब्द कोष तैयार कर साहित्य-मनीषियों की सेवा में रखने का प्रयत्न करूँगा ।

कही कहीं किसी शब्द की व्युत्पत्ति की मान्यता में और साधना में अन्तर है वही व्याख्याकार ने कई संस्कारणों एवं कोषों द्वारा अपने मन को निद्व करने

का प्रयत्न किया है—जो कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :—

“ पङ्क्तिस्तसमूहनामैक गार्भिणम् ‘गर्भिण्या क्षेत्रपङ्क्तयस्तासां गार्भिणम्’ इति गणरत्नमहोदधिवृत्तिः । अत्र गर्भिणीशब्दो मेघमालाशालापङ्क्तयदिवाचकत्वात् अचित्तविशेषवचन इति इकण् प्राप्ती तद्वाधको ‘भिक्षादेः’ इति सूत्रेण अन्ततो ‘जातिश्चणि’ इति पुवद्भावे, सप्तमाध्यायचतुर्थपादवृत्तिपञ्चाशत्तमसूत्रेण ‘संयोगादिनः’ इत्यन्तलोपप्रतिषेधः । गर्भवतीस्त्रीवचनात् इकणोऽप्राप्तेरौत्सर्गिकवचनात् इति न्यासकारः । अतो गर्भवतीनां स्त्रीणां वृन्दानामपि गार्भिणामिति । तरुणीनां स्त्रीणां वृन्दनामैकं “यौवतम्” चतुर्थवर्गाद्यान्तोऽयम् । युवतिशब्दस्य भिक्षादिगणमध्ये पाठात् पुवद्भावो न भवति । यत् काशिकाकारः— ‘युवतिशब्दोऽत्र पठ्यते । तस्य ग्रहणसामर्थ्यात् पुवद्भावो न भवति ।’ अतो ‘अवर्णवर्णस्य’ इति, युवतिशब्दसम्बन्धितस्तवर्गप्रथमस्य तृतीयस्वरलोपे यौवत चन्द्राचार्याभिप्रायेण । वस्तुतस्तु तद्धितप्रत्ययोत्पत्तेः प्रायेण पुवद्भावेन भवितव्यम् । ततो युवतीनां समूहं यौवन, ‘भिक्षादेः’ इत्यण्, ‘जातिश्चणि’ तद्धित—‘यस्वरे’ इति पुवद्भावे तीतिवर्णलोपे यौवनं चतुर्थवर्गपञ्चमान्तोऽयम् । यत् उक्त भाष्यकारेण— भिक्षादिषु युवतिग्रहणानर्थक्यं पुवद्भावस्य सिद्धत्वात् प्रत्ययविधात् इति । यथा—सुरूपमतिनैपथ्यं कलाशुनाद्यौवनम् । यस्य पुण्यकृतः प्रीष्यं सफलं तस्य यौवनम् ॥ इति, यस्य पुण्यशूनः— पुण्यकर्तुः पुरपस्य कलाकुशाद्यौवन-

कलाचतुरतरुणीवृन्दं प्रैष्यं—आशाकारि तस्या यौवनं—यूना  
भावः सफलं इत्यन्वयः । कीदृशं स्वरूपं ? अतिनेपथ्यं  
यस्य तत् अतिनेपथ्यं इति श्लोकार्थः । यौवनं चतुर्थवर्ग-  
प्रथमान्तः स्वमते, परमते तु यौवनं चतुर्थवर्गपञ्चमान्तः,  
इत्युभयं तरुणीवृन्दवाचक ज्ञेयम् ।” (कां, ६. श्लो. ५१  
की टीका, पृ. १३०-१)

इससे इनका शब्द व्युत्पत्ति ज्ञान और कोश-काव्य-  
ज्ञान का परिचय मिलता है । दुर्भाग्य है कि इस प्रकार  
की महत्त्वपूर्ण टीका साहित्य-जगत में प्रकाश में अभी तक  
नहीं आई है । जैन संस्थाओं का कर्तव्य है कि इस  
प्रकार की टीकाओं का प्रकाशन शीघ्र और अवश्य करे ।

इसमें कां. ६ पद्य १७१ की व्याख्या में संवत् शब्द  
का उदाहरण देने के लिये श्रीवल्लभजी ‘सिद्धहेमकुमार  
संवत्’ का उल्लेख करते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से  
वहुत ही महत्त्व का है । इससे यह तो निश्चित है कि  
इस सिद्धहेमकुमार संवत् का नाम प्रचलन १७ वी शती के  
उतरार्द्ध तक अवश्य था—तदनन्तर तो संभवतः इस नाम  
का उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता ।

### निघण्टुशेषनाममाला टीका

अमिधानचिन्तामणि नाममाला कां. ४ पद्य २०८ की  
टीका “रायणिनामानि धीहेमचन्द्राचार्यकृतहेमनिघण्टुशेषो-  
क्तानि ज्ञेयानि । तद्यथा—राजादने तु राजन्या आदि ।  
एतेषा व्युत्पत्तिस्तु अस्मत्कृत निघण्टुशेषटीकातो ज्ञेया ।”

से स्पष्ट है कि आपने निघण्टुशेषनाममाला पर टीका की रचना की, पर दुर्भाग्य है कि आज वह प्राप्त ही नहीं है, संभव है नष्ट हो गई ।

### सिद्धहेमशब्दानुशासनवृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत सिद्धहेमशब्दानुशासन पर आपने वृत्ति की रचना है । इस की एक मात्र प्रति 'विजयधर्म-लक्ष्मी-ज्ञानमन्दिर, आगरा' में सुरक्षित है । पत्र संख्या १४३ है । इस प्रकार की सूचना भाई श्री भेंवरलालजी नाहटा से सं. २००२ में प्राप्त हुई थी । टीकाकार ने कब इस की रचना की ? यह इन के प्रारम्भिक काल की रचना है अथवा प्रौढावस्था की ? इस विषय में प्रति के मन्मुख न होने के कारण कुछ भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता । परन्तु इस की पत्र संख्या १४३ होने ने यह अनुमान अवश्य होता है कि टीका विगद और प्रौढ होनी चाहिये ।

### दुर्गपदप्रबोधवृत्ति

श्री हेमचन्द्राचार्य प्रणीत हेमलिङ्गानुशासनविवरण पर दुर्गपदप्रबोध नामक टीका की रचना आचार्य जिनचन्द्रमूरि एव तत्पट्टपर श्री जिनमिहसूरि के धर्मराज्य में विचरण करते हुए आपने वि. सं. १६६१ कार्तिक शुक्ला सप्तमी को जोधपुर में नरेस मूरमिहजी के विजय राज्य में अनेक शास्त्रों का प्रबोधन कर २००० ग्रन्थ परिमाण में की:—

मोहद्रोहवनप्लुपः स्मरपिपः प्रध्वस्तदोषद्विपः,  
पापक्लेशमुपः सनद्गतहपः चारित्रलक्ष्मीपुपः ।  
पुष्पश्रीपजुपः प्रशान्तवपुपः स्फूर्जन्द्यशोज्योत्तिपः,  
तत्पट्टे जिनसिंहमूरिगुरवो नन्दन्ति दिव्योजसः ॥३॥

\* \* \*

श्रीमद्योधपुरे द्रडगे सूरसिंहमहीपती ।  
प्राज्वराज्यश्रियं शशवच्छास्तरि प्रभुतोदये ॥५॥  
भूमिपद्मरसतुङ्गीशसहस्रये वर्षे सुखाधिके ।  
मासि कार्तिकिके कान्ते, मुदिने सप्तमीदिने ॥६॥

\* \* \*

तेषां शिष्यवरैश्चक्रे, श्रीश्रीवल्लभशाचकः ।  
दुर्गपदप्रबोधोऽयं, प्रकटज्ञानहेतवे ॥८॥  
श्रीहेमचन्द्रनूरीन्द्रकृते लिङ्गानुशासने ।  
विद्यते या शुभावृत्तिस्तत्स्यदुर्गाधिबोधदः ॥१०॥

\* \* \*

नहत्तद्वितयं ग्रन्थमानमत्रोदिन शुभम् ।  
गणनया च वर्णानामनुमित्यावसोयते ॥११॥

वृत्ति की रचना मूल लिङ्गानुशासन पर नहीं की गई । इसमें 'या शुभावृत्ति विद्यते तस्य दुर्गाधिबोधदः' ने स्पष्ट है कि आ० हेमचन्द्र का ही जो लिङ्गानुशासन के ऊपर स्वोपज्ञ विवरण है उसमें जिन-जिन स्थानों में जहाँ दीर्गम् या काठिन्य है उन ही स्थलों पर इसमें विवेचन किया गया है । इसीलिये इस विवरण का नाम दुर्गपद-प्रबोध रखा गया है ।



यह टीका भी बहुत सुन्दर है । इसमें भी 'इति प्रसिद्धे' कहकर लगभग १४०० देश्य शब्दों का प्रयोग किया गया है । इसका सम्पादन भी सुन्दर रूप से होकर 'श्री अमी सोम जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुका है ।

### सारस्वतप्रयोगनिर्णय

जिनराजसूरि के राज्य में (स. १६७४ से १६९०) इसकी रचना हुई है । इसकी एक-मात्र २३ पत्र की अपूर्ण प्रति 'भावहर्षीय सरतर. भंडार, बालीतरा' में है । ऐसी सूचना भाई श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा ने दी है । जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि सारस्वतव्याकरण के प्रयोगों का इसमें निर्णय-साधन किया गया है । प्रौढावस्था की कृति होने के कारण संभवतः यह भी महत्वपूर्ण हो, पर प्रति के गन्भुय न होने के कारण विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

### वैशा :- पदव्याख्या

सारस्वत व्याकरणस्य 'वैशा' १ इम पद्य की व्याख्या इसमें सुन्दरतम पद्धति में की गई है । इस एक श्लोक की व्याख्या में भी टीकाकार ने गिद्धहेम, पाणिनीय, विद्वजम्भु, भ्रमर, हेमनिघण्टु, श्रीधर इत्यादि के उद्धरणों के माध

१ वैशा कर्त्तव्या शाभा, कर्त्तव्यिनाशमा ।

विक्रान्तो यो दत्त, तसोम्प्रादुत्तोरम ॥१॥

इसको मरल और सरस बनाने का प्रयत्न किया है । इसकी रचना कब हुई निश्चित नहीं कहा जा सकता । इसकी एकमात्र प्रति महिमा भक्ति जैन ज्ञान भण्डार, बीकानेर, पो. ७० प्रं. १८६० में सुरक्षित है । पत्र संख्या केवल एक ही है । इसका आद्यन्त इस प्रकार है:—

आ-मं.— सारस्वतस्य सूत्रे यत्, केशा इति पदं स्फुटम्

तच्छ्लोकटीकामाचष्टे, श्रीश्रीवल्लभवाचकः ॥१॥

अ.— कृतध्यायं श्रीज्ञानविमलमहोपाध्यायमिश्राणां शिष्य  
वाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिभिः, स च गिप्यादिभिर्वाच्य-  
मानश्चिरं नन्द्यात्, श्रीगारदाप्रसादात् ।

### चतुर्दशगुणस्थानस्वाध्याय

यह स्वाध्याय (मञ्जराय) भाषा में गुफित है । इसमें १४ गुणस्थानों का क्रमशः वर्णन है । इसके २३ पद्य हैं । इसका आद्यन्त इस प्रकार है:—

आदि:—

भमरवि वीर जिणेमर देव, जमु मुरपति मवि मारइ मेव ।

मुगुरलणा वचन निमुणेवी, पन्नणिभुं गुणठाणानुं भेवी ॥१॥

अन्त:—

गय कुमलकारक दुवनिवारक चउद चांनिकी जाणीइ,

जिन तणो वाणी हीइ आणि मुमतिमान वरनांणीइ ।

जे मुणिअ निग्रत करि एक चित्त मुधिर नमकित तेह तणओ,

श्रीवल्लभ मुनिवर भणि जिनवर तिहां घरी हुई सुखपणो

## परिशिष्ट परिचय

क

भारतीय वाङ्मय में सहस्रदलात्मक चित्र-काव्यों में यह दूसरी कृति है। इसका रचना समय अज्ञात है। इसके कर्ता कौन है? इस स्तोत्र की पंक्तियों से अस्पष्ट है। 'श्रीरत्न' 'श्रीलब्धरङ्ग' नाम आते हैं पर निश्चित नहीं कहा जा सकता कि किस कवि ने इसका प्रणयन किया है। पर हाँ, इतनी बात निश्चित है कि कवि "खरतर" [पद्य ३७] गच्छीय विद्वान था। इस स्तोत्र की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

यह स्तोत्र चौबीसवें शासनपति श्रीमहावीर को लक्ष्य में रखकर बनाया गया है। इसमें ३८ पद्य हैं। अनेक प्रकार के छन्दों का कवि ने स्वतन्त्रता में प्रयोग किया है। 'अरजिनस्तव' की तरह कवि ने "र" का प्रयोग किया है। अरजिनस्तवकार ने दो अक्षरों के पश्चात् र का प्रयोग किया है किन्तु इस स्तोत्रकार ने एक अक्षर के पश्चात् ही र का प्रयोग किया है और वह भी १०१६ स्वर। एक अक्षर के पश्चात् ही स्वर होने के कारण तथा वृत्ति का अभाव होने में इसकी मार्मिकता को समझने में हम असफल रहे हैं। अतः संभव है यत्र तत्र अंगुठियाँ रूढ़ गई हों।

शतदलकमलमय पार्श्व-स्तव के कर्ता उपाध्याय सहजकीर्ति खरतरगच्छीय क्षेमशाखा के वाचस्पति-रत्नसार के शिष्य थे। संस्कृत-साहित्य के विशेषतः व्याकरण, कोष और साहित्य के आप प्रकाण्ड विद्वान् थे, साथ ही थे कवि भी। इनके ऋजुप्राज्ञ नामक व्याकरण, नामकोष नामक कोष, सारस्वत वृत्ति, कल्पसूत्र वृत्ति (कल्पमंजरी) आदि उल्लेखनीय रचनाएँ प्राप्त हैं। वैसे रास और छोटी-मोटी टीकाएँ आदि मिलाकर लगभग २८ ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इस स्तोत्र की रचना सं. १६७५ मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को लोदपुर (वर्तमान-लोदवा, जेसलमेर से ३ कोस) में हुई है। लोदपुर पत्तन में जिनेश्वर प्रसाद (जो जीर्ण हो गया था) का जेसलमेर निवासी शाह थाहल ने जीर्णोद्धार करवाकर खरतरगच्छाचार्य जिनराजसूरि से इसी दिवस प्रतिष्ठा सम्पन्न करवाई थी। उसी के उपलक्ष में उसी दिवस कवि ने इसकी रचना पूर्ण की है। ऐसा कमलस्थ बहिःलेखन से प्रकट है।

उपर्युक्त दोनों चित्रकाव्यों से इसकी रचना-पद्धति भिन्न है। इसमें "म" को मध्यविन्दु में रखा है और अक्षरों के पश्चात् म का प्रयोग न करके प्रत्येक पाद के अन्त में म का प्रयोग किया है। साथ ही प्रत्येक पाद के

प्रथमाक्षर का संयुक्त और मुक्तक रूप से स्वतन्त्र ही ३ पद्यों में कवि ने रसास्वादन करवाया है। काव्य बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। इससे कवि की उच्च प्रतिभा का भी आभास प्राप्त होता है। इस काव्य में २५ पद्य यन्त्रस्थ हैं और एक पद्य प्रशस्ति रूप में तथा ५ पद्य लोद्वपुर प्रतिष्ठा समय के सूचना देने और रचना का कारण बतलाने के लिये लिखे गये हैं जो यन्त्र के बाहिरी भाग में उत्कीर्ण हैं।

यह शिलापट्ट आज भी लोद्ववा पार्श्वनाथ मन्दिर में अवस्थित है।

### प्रकाशन का इतिहास

मेरे गिरच्छत्र पूज्येश्वर गुरुदेव श्रीजिनमणिसागरसूरिजी महाराज का सं. २००४ का चातुर्मास कोटा में था। उस वर्ष में नेत्रिदूत का सम्पादन कर रहा था। उस समय परमपूज्य गुरुदेव की यह अभिलाषा और आदेश था कि 'तू अपने गच्छ के स्तोत्र-साहित्य एवं छोटे-मोटे काव्यग्रन्थों का सम्पादन कर प्रकाश में ला।' इसी विचार ने प्रभावित होकर मैंने श्रीनाहटाजी को धीकानेर लिया और नाहटाजी ने भी तत्काल ही इस ग्रन्थ की प्रेमकाँपी मुझे प्रकाशनार्थ भेज दी। वह प्रेमकाँपी पद्धति में नहीं की गई थी इसलिए नाहटाजी के द्वारा ही पूना में प्रति भगवाकर उसी वर्ष मैंने प्रेमकाँपी तैयार की। मुद्रणार्थ काँपी को प्रेम में देने का विचार था, परन्तु इस उच्चकोटि के

काव्य ग्रन्थ के प्रकाशन में अशुद्धि बाहुल्य न रह जाय (कारण कि उस समय मेरा ज्ञान साधारण ही था) जिस लिये कॉपी शुद्ध करवाने की दृष्टि से गणि श्रीबुद्धिमुनिजी म० को भेज दी गई । उन्होंने भी अवकाश निकाल कर उसे शुद्ध करके वापिस लौटा दिया ।

इसी बीच मैं परीक्षाओं के निमित्त अध्ययन कार्य में जुट गया । फलतः प्रकाशन का कार्य बन्द हो गया । गत वर्ष मेरा चातुर्मास अहमदावाद था । परीक्षाओं के चक्र से विनिर्मुक्त हो चुका था । वल्लभभारती की प्रेमकॉपी बनाने में संलग्न था । उस समय पुनः इस स्तोत्र-काव्य की स्मृति आई, प्रकाशन के लिये हृदय ज्वालित हो उठा । श्रावक वर्ग को उपदेश देकर मुद्रण के लिये द्रव्य की व्यवस्था भी की और मुद्रणार्थ पुनः प्रेस कॉपी तैयार कर 'नवजीवन कार्यालय'को मुद्रणार्थ देदी ।

### प्रति-परिचय

प्रस्तुत अरजिनस्तव का सम्पादन करने में हमें एक ही प्रति प्राप्त हुई है और वह भी 'भाण्डारकर ओरिएण्टल रिमर्च इन्स्टीच्यूट, पूना' से । यद्यपि प्रति के अन्त में लेखक ने लेखन संवत् नहीं दिया है किन्तु प्रति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह रचना के कुछ समय पश्चात् ही लिखी गई है । प्रति प्रायः शुद्ध है, परन्तु कई स्थलों पर काव्यस्थ शब्दों की टीका प्रमाद से

जिसकी सूचना टिप्पणी में दे दी गई है । प्रति के १५ पत्र हैं । प्रत्येक पत्र में २१-२१ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पक्ति में ६२-६५ अक्षर हैं । प्रति की दीर्घता १०।।। इंच है, और पृथुता ४।।। इंच है । प्रति अभी तक अच्छी हालत में है ।

परिशिष्ट क-शतदल स्तोत्र का सम्पादन श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहर के जैन लेख संग्रह भाग ३, और पं. लालचन्द्र भगवान् गान्धी द्वारा सम्पादित 'जैसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूचि' के आधार पर किया गया है ।

और परिशिष्ट स महस्रदलात्मक वीर स्तोत्र श्रद्धेय भाई-मुनिराज श्रोपुण्यविजयजी महाराज से प्राप्त हुआ है । इसका एक ही पत्र है । किनारे खंडित हो चुके हैं । पत्र भी जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहा है । अनुमान है यह पत्र १७वीं शती के अन्त में अथवा १८वीं के प्रारंभ में लिखा गया हो ।

आभार-प्रदर्शन :—

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मुझे जिन जिन श्रद्धेय मनीषियों का और दृष्टमण्डली का सहयोग प्राप्त हुआ है उनके लिये मैं हृदय में उनका कृतज्ञ हूँ । उनके सहयोग के बिना इस काव्य-रत्न का प्रकाश में आना ही मुश्किल था ।

गर्वप्रथम मैं श्री अजरचन्द्रजी नाहटा को धन्यवाद देता हूँ जिनकी प्रेरणा ने ही इस काव्य के सम्पादन का

विचार हुआ और सम्पादन के लिये समय—समय पर यथोचित मामग्री तथा परामर्श भी प्राप्त हुआ । दूसरे, गणिवर श्री वृद्धिमुनिजी महाराज का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने इसकी काँपी को मेरे आग्रह पर शुद्ध कर भेजने का कष्ट उठाया । तीसरे, श्रद्धेय भुनिराज श्री पुण्यविजयजी म. भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने सारे ग्रन्थ के प्रूफ देखने का कष्ट उठाया । चौथे, मेरे विद्यागुरु डा. श्री फतहसिंहजी एम. ए. डी. लिट, का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके परामर्श से मुझे सम्पादन में बड़ी सफलता मिली है ।

साथ ही भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट के क्युरेटर श्री पी. के. गोडे को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनकी कृपा से ही सम्पादनार्थ इस प्रति को ८ मास तक मैं अपने पास रख सका ।

सूत्रधार एवं आर्टिस्ट भाई श्री वमृतलाल मूलशंकर त्रिवेदी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनने मेरे आग्रह को स्वीकार कर प्रेम से इस सहस्रदलकमल का चित्र बनाया । और अहमदावाद का खरतरगच्छ संघ भी धन्यवाद का भाजन है जिसने की इसके प्रकाशन के लिये द्रव्य की व्यवस्था की ।

श्रावणी अमावस्या २०१०

कोटा

श्यामाप्रभु-

विनयसागर



जिसकी सूचना टिप्पणी में दे दी गई है । प्रति के १५ पत्र हैं । प्रत्येक पत्र में २१-२१ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पक्ति में ६२-६५ अक्षर हैं । प्रति की दीर्घता १०।।। इंच है, और पृथुता ४।।। इंच है । प्रति अभी तक अच्छी हालत में है ।

परिशिष्ट क-शतदल स्तोत्र का सम्पादन श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहर के जैन लेख संग्रह भाग ३, और पं. लालचन्द्र भगवान् गान्धी द्वारा सम्पादित 'जेसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूचि' के आधार पर किया गया है ।

और परिशिष्ट ख सहस्रदलात्मक वीर स्तोत्र श्रद्धेय भाई-मुनिराज श्रोपुण्यविजयजी महाराज से प्राप्त हुआ है । इसका एक ही पत्र है । किनारे खंडित हो चुके हैं । पत्र भी जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहा है । अनुमान है यह पत्र १७वीं शती के अन्त में अथवा १८वीं के प्रारंभ में लिखा गया हो ।

आभार-प्रदर्शन :—

इस ग्रंथ के प्रकाशन में मुझे जिन जिन श्रद्धेय मनीषियों का और इष्टमण्डली का सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिये मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ । उनके सहयोग के बिना इस काव्य-रत्न का प्रकाश में आना ही मुश्किल था ।

सर्वप्रथम मैं श्री अगरचन्द्रजी नाहटा को धन्यवाद देना हूँ जिनकी प्रेरणा में ही इस काव्य के सम्पादन का

विचार हुआ और सम्पादन के लिये समय-समय पर यथोचित मागग्री तथा परामर्श भी प्राप्त हुआ । दूसरे, गणिवर श्री बुद्धिमुनिजी महाराज का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने इसकी काँपी को मेरे आग्रह पर शुद्ध कर भेजने का कष्ट उठाया । तीसरे, श्रद्धेय मुनिराज श्री पुण्यविजयजी म. भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने सारे ग्रन्थ के प्रूफ देखने का कष्ट उठाया । चौथे, मेरे विद्यागुरु डा. श्री फत्तहरिहजी एम. ए. डी. लिट, का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके परामर्श से मुझे सम्पादन में बड़ी सफलता मिली है ।

साथ ही भाण्डारकर औरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट के क्यूरेटर श्री पी. के. गोडे को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनकी कृपा से ही सम्पादनार्थ इस प्रति को ८ मास तक मैं अपने पास रख सका ।

सूत्रधार एव आर्टिस्ट भाई श्री अमृतलाल गूल्शंकर त्रिवेदी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनने मेरे आग्रह को स्वीकार कर प्रेम से इस सहस्रदलकमल का चित्र बनाया । और अहमदाबाद का खरतरभच्छ संघ भी धन्यवाद का भाजन है जिसने की इसके प्रकाशन के लिये द्रव्य की व्यवस्था की ।

श्रावणी अगावरवा २०१०  
कोटा

श्यामासूनु-  
धिनयसागर

## संकेतसूची

अ.	=	अभिधान चिन्तामणि नामकोष
अभि. चि. का.	=	अभिधान चिन्तामणि काण्ड
अ. चि. ना. वृ. प्र.	=	अभिधान चिन्तामणि नाममाला वृत्ति प्रशस्ति
अने. म. का.	=	अनेकार्थ सग्रह नाममाला काण्ड
अ. स्त. वृ. प्र.	=	अरजिनस्तव वृत्ति प्रशस्ति
ऐ. जै. का. म.	=	ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह
कवि. क.	=	कवि कल्पद्रुम
जे.	=	जैसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूची
दु. प्र.	=	दुर्गपदप्रबोध
दु. प्र. प्र.	=	दुर्गपदप्रबोध प्रशस्ति
ना.	=	जैन लेख सग्रह भा. ३ (नाहर)
पा. मि. की.	=	पाणिनीय सिद्धान्त कौमुदी
र. म.	=	रचना मवत्
वि. ए.	=	विश्वशम्भु एकाक्षरी नाममाला
वि. त्रि.	=	विशक्ति त्रिवेणी
वि. चि. प्र.	=	विशक्ति त्रिवेणी प्रस्तावना
शी.	=	शीलोच्छ्रिताममाला वृत्ति
शी. ना. टी. प्र.	=	शीलोच्छ्रिता नाममाला टीका प्रशस्ति
ने. म टी. प्र.	=	नेत्र सग्रह टीका प्रशस्ति
गि. हे.	=	गिद्ध हेम शब्दानुशासन
गि. हे. उ. मृ.	=	गिद्ध हेम उणादि शून
गु. ए.	=	गुणावल्लभ एकाक्षरी नाममाला
गौ. ए.	=	गौमरि एकाक्षरी नाममाला

स्वोपज्ञयुक्तिविभूषितः

श्री अरजिनस्तवः

( महत्सदसकमलमयः )

अहंम्

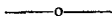
श्रीमज्जिनमणिशापरसूरिपादपद्मेभ्यो नमः

उपाध्यायप्रवरश्रीश्रीवल्लभोपाध्यायविहितः

स्वोपज्ञवृत्तिदिभूषितः

## श्रीअरनाथजिनस्तवः

( सहस्रदलकमलमयः )



[ धृतिकारमङ्गलाचरणम् ]

स्वकीयविद्यागुरुसत्प्रसादात्,  
करोमि वृत्तिं स्तवनस्य चादीम् ।  
अरं जिनं हर्षकरं प्रणम्य,  
सहस्रपद्माम्बुजगर्भितस्य ॥१॥

तस्य चायमादिः—

असुरनिर्जरबन्धुरशेखर-

प्रचुरभव्यरजोभिर पञ्जरम् ।

क्रमरजं शिरसा सरसं वरं,

जिन! रमेश्वर! मेदुरशङ्कर! ॥१॥

प्रवरवर्णरसागरचन्द्रि!

जठररागरसाविरसङ्गर! ।

मुचिरकृन्नरभीतरभद्रर!,

कुरु रमं भरमाभरहृत्पर! ॥२॥

[ युग्मम् ]

व्याख्या --- हे 'जिन! हे तीर्थकर! हे अरनाथ! तवेति शेषः, 'क्रमरज' रात्-जलाज्जातं रजं-कमलं, क्रमः-चरणः, स एव रज क्रमरज 'गिरसा' मस्तकेन [ वन्दे ] इत्यध्याहार्यम् । किम्भूतं क्रमरज? 'पञ्जिरम्' पीतम्, कैः? 'असुरनिर्जरबन्धुर-शेखरप्रचुरभव्यरजोभिः' असुराः-असुरकुमाराः निर्जराः-वैमानिकत्रिदशास्तेषां ये बन्धुरशेखराः-मनोहरापीडास्तेषां यानि प्रचुरभव्यरजांसि-बहुलचारुपरागास्तैः । 'अ' पादपूरणार्थमव्ययम् । पुनः किम्भूतं क्रमरजं? 'सरसं' रसयुक्तम् । पुनः किम्भूतं क्रमरज? 'वरं' प्रधानम् । किम्भूतं हे जिन!? 'रमेश्वर!' लक्ष्मीनाथ! । पुनः किम्भूतं जिन!? 'मेदुरशङ्कर!' प्रमोदेन मेघन्तीत्येवशीलाः "भञ्जिभासिमिदो घुरः" [सि.हे.५।२।७४] इति घुरः, मेदुराः-प्रमोदपिच्छिलास्तान् प्रति शं-सुखं करोतीति मेदुरशङ्करस्तस्यामन्त्रणम् ॥ १ ॥

हे आमरहृत्पर! "रहृत्पागे" "इकिस्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति तिवि रहृतिः-त्यजन, आमानां-रोगाणां रहृतिर्यस्य यस्माद्वा आमरहृतिः, स चासौ अरः-अरजिनस्तस्यामन्त्रणं हे आमरहृत्पर! त्वं 'रमं भरं' प्रधानं पोषणं 'कुरु' विधेहि । किम्भूतं हे आमरहृत्पर!? 'प्रवरवर्णर-

सागरचन्द्रिर! ' प्रवराः—प्रकृष्टा ये वर्णाः—शोयंगाम्भीयादयो गुणाः, यदुक्तं हेमसूरिभिः—

—“वर्णः स्वर्णे मन्त्रेः स्तुती ।

रूपे द्विजादौ शुक्लादौ, कुयायामक्षरे गुणे ॥”

[अने. सं. कां. २ श्लो. १६६]

इति, त एव राणि—रत्नानि “रं रत्नं रोदनं घनम्” [सौ. ए. श्लो. ८३] इति वचनात्, तेषां सागरः—समुद्रस्तत्याह्लाददाय-कत्वात् चन्द्रिर इव—चन्द्रमा इव यः सः सम्बोध्यते । किम्भूत त्वं? 'जठररागरसाविः' जठरः—कठिनः “जठरः कुक्षियद्वयोः, कठिने [च]” [अने. सं. कां. ३ श्लो. ११५६] इत्युक्तेः, प्रस्तावाद् दृढोऽन्यन्तकरणादयो रागरसः—नर्म तस्य आविः—व्रजनं यस्मात् स तथा, “स्यात्तु नर्मणि, मुखोत्सवो रागरसः” [शेष. सं. श्लो. ११५] इति शेषः । पुनः किम्भूत हे आमरहृत्वर! ? 'असङ्गर!' सङ्ग्रामरहित! । पुनः किम्भूत आमरहृत्वर! ? 'मुचिरकुन्नर-भीतरभद्रर!' मुचिरं—घर्मं कुर्वन्तीति मुचिरकुन्तस्ते न ते नराश्च मुचिरकुन्नरास्तेषां भीतरभद्रे—भयेतरमङ्गले राति—ददाति यः स तथा स सम्बोध्यते । यदुक्तमृणादिवृत्त्याम्—“मुचिरो घर्मः सूर्यो मेघश्च” [सि. हे. ज. सू. ४१६] ॥२॥

प्रवरपारपरदन्तुरभूधर-

भिदुरतुल्य! रसाक्षर! कं कर ।

कुनरकाकरवादरकस्वर!

विदुरजेसरभक्तरमुत्कर!

॥३॥

व्याख्या—हे 'रसासर!' रसायां—वसुन्वरायां सरति-  
 गच्छति रसासरः—पुमान् तत्सम्बोधनं हे रसासर! हे पुरुष!  
 हे अर! त्व 'क' सुखं 'कर' कुरुष्व । “कृब् कृतौ” इति धातो-  
 राशी. प्रेरणयोर्हिरूपम् । अथ सम्बोधनविशेषणयोर्विशेष्यते—  
 किम्भूत हे रसासर! ? 'प्रदरपापंरदन्तुरभूधरभिदुरतुल्य !'  
 प्रदराः—रोगाः महाव्रणादयः “प्रदरः शरे ॥ भङ्गे रोगे” [अने.  
 स. कां. ३ श्लो. ११७२-७३] इति वचनात्, पापंरः—यमः  
 कालरूपः “पापंरो भस्मनि यमे” [अने. सं. कां. ३ श्लो.  
 ११७६] इति वचनात्, तेषां द्वन्द्वे प्रदरपापंराः, त एव  
 दन्तुरभूधराः—विषमपर्वता. “दन्तुरः, उन्नतदन्ते विषमे” [अने.  
 सं. का. ३ श्लो. ११६३] इत्युक्तेः, तेषां भञ्जने भिदुरं—वर्जं  
 तत्तुल्यः—तत्समानो यः स तथा स सम्बोध्यते । पुनः किम्भूत  
 रसासर! ? 'कुनरकाकरदादरकस्वर!' कुः—कुत्सितः नरकः—  
 निरयः कुनरकस्तस्मिन् यत् अकं—दुःखं तद् रदन्ति—उत्पाटयन्ति  
 ये ते कुनरकाकरदास्तेषु आदरं—पूजाविशेषं “कस्त गतो” कसती-  
 त्येवशीलो यः सः, “स्थेशभासपिसकसो वरः” [सि. हे. ५।२।५१।]  
 इति वरः, कुनरकाकरदादरकस्वरः तत्सम्बोधनम् । पुनः किम्भूत  
 रसासर! ? 'विदुरजेगरभक्तरमुत्कर!' विदुरेषु—धीरेषु जेगराः—  
 शूराः “जेसरः शूरः” इत्युणादी [सि. हे. उ. सू. ४३६] विदुर-  
 जेगराः, ते च ते भक्तराश्च—भक्तनरास्तेषां मुत्करः—हर्षं करो यः  
 स तथा, स सम्बोध्यते ॥३॥

मुहिरगयंरदुद्धंरसिन्धुर-

विशरणाकरसिहरहोऽगरम् ।



चतुरनं जरसाऽधरमं स्मर,

शिवरमं वरसंवरद्युद्धिरम्

॥४॥

व्याख्या — हे जन ! इति पदमध्याहार्यम् । त्वं 'अ' अर्हन्तं अरनाथलक्षणं 'स्मर' मनसि चिन्तय । किंविशिष्टं अं ? 'मुहिरगर्वरदुद्धंरसिन्धुरविशरणाकरसिहरहोजगरम्' मुहिरः— कामः "मुहिरो मूर्खकामयोः" [ अने. सं. कां. ३ श्लो. ११८५ ] इति हेमाचार्याः, तस्य यो गर्वरः—अहङ्कारः, यदुक्तमुणादौ— "गर्वरोऽहंकारः [ महिपदच ]" [ सि. हे. उ. सूत्र ४४१ ] स एव दुद्धंरसिन्धुरः— उत्कटगातङ्गस्तस्य विशरण—व्यापादनं तस्य आकरः—समन्ताद् विधानं तत्र सिंह इव—व्याघ्र इव यः स मुहिरगर्वरदुद्धंरसिन्धुरविशरणाकरसिंहः, रहः—अज्ञानं तद् न गृणाति—न गव्दयति यः स रहोजगरः, "गश् शब्दे" द्वाभ्यां कर्म-धारये मुहिरगर्वरदुद्धंरसिन्धुरविशरणाकरसिहरहोजगरस्तम् । पुनः किम्भूतं अं ? 'चतुरनं' चतुराः—विद्वांसो नाः—नरा यस्य स तथा तम् । "नो नरे" [ वि. ए. ७६ ] इति विश्वः । पुनः किम्भूतं अं ? 'जरसाऽधरम्' जरसा—वृद्धत्वेन अधरं—हीनं रहित-मित्यर्थः । "अधरोऽन्तर्द्धिहीनोऽष्टेषु" [ अने. सं. कां. ३ श्लो. १११७ ] इति वचनप्रमाणात् । पुनः किम्भूतं अं ? 'शिवरमं' शिवे—भुक्तौ रमते यः स तथा तम् । पुनः किम्भूतं अं ? 'वरसंवर-द्युद्धिरं' "वृ वरणे" वरन्ति धर्मश्रियं इति वराः—श्रावकास्तेषां संवरद्युद्धीः—वैराग्यमती राति—प्रयच्छति यः स तथा तम् ॥४॥

सुहीरसच्चौरविहारसीवर-

प्रतारसाधारणकारवादर ! ।

जनौर ! निर्मेरणघोरणीस्फिरं,

मनोरमास्वारवतो रतक्षर ! ॥५॥

व्याख्या—हे 'अ !' जिन ! तवेति शेषः, 'निर्मेरणघोरणीस्फिर' निर्मेराश्च - निर्मर्यादा ये णाश्च - प्रस्तुता ये ते निर्मेरणाः- गुणास्तेषां घोरणी - श्रेणिः गुणावली स्फिरं - वृद्धि प्राप्नोतीति शेषः । कस्मात् ? 'मनोरमास्वारवतः' मनसा रमन्ते इति मनोरमाः- पण्डितास्तेषु आ - समन्तात् स्वारवः- प्रधानशब्दस्तस्मात् । निर्मेरणघोरणी किंविशिष्टा ? 'सुहीरसच्चौरविहारसीवरप्रतारसाधारणका' सुहीरः - प्रकृष्टहीरः विशेषशुभ्रत्वात्, सच्चौरं-प्रशस्तवासोविशेषः, विहारः-विशिष्टमुक्तावलीः, सीवरः-समुद्रः प्रस्तावात् क्षीरसमुद्रः, प्रतारः- निर्द्वाररूपं, एषा द्वन्द्वे सुहीरसच्चौरविहारसीवरप्रताराः, तेषां साधारण एव - समाना एव ग्राह्यतया, स्वार्थे कः । किम्भूत हे अ ! ? 'आरवादर !' आराणि-देवसमूहास्तेषु वादरं-वचनं धर्मरूप यस्य स तथा, तत्सम्बोधनम् । "वादरं कृमिजे जले ॥ काकचिम्ब्राद्ववीजे वाग्दक्षिणावत्तंशह्वयोः ।" [अने. सं. कां. ३ इत्यो. १२००, १२०१] इति हंमानेकार्यवचनात् । पुनः किम्भूत अ ! ? 'जनौर !' जनान्-लोकान् अवति-प्रीणयति यः स तथा तत्सम्बोधनम् । पुनः किम्भूत [अ !] ? 'रतक्षर !' रतात्-गम्भोगात् क्षरति-चञ्चति यः स तथा, तत्सम्बोधनम् ॥५॥

डमरदुर्ज्वरतस्करभीभर—

प्रहरणाविरहः किरताद् वरम् ।

सुकुरतीर्णरदस्वरधीघरः

प्रसरकीर्तिरजाहरनिर्दरः ॥६॥

व्याख्या—‘प्रसरकीर्तिः’ “सृ गती” प्रसरति—सर्वत्रविस्तरयति या सा प्रसरा, एवंविधा कीर्तिः—यगो यस्य स प्रसरकीर्तिः—अरनाथः ‘दरं’ भयं ‘किरतात्’ क्षिपतात् । किंविशिष्टः प्रसरकीर्तिः? ‘डमरदुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणाविरहः’ दुष्टो ज्वरः दुर्ज्वरः तस्कराः—चौराः भीभरो—भयवृन्दं प्रहरणं—युद्धं, एषां द्वन्द्वः दुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणानि, डमराणि—भीष्यानि दुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणानि, तेषां अ [?आ] विरहः—समन्ताद्विरहो यस्य स तथा । पुनः किम्भूतः प्रसरकीर्तिः? ‘सुकुरतीर्णरदस्वरधीघरः’ “कुरत् शब्दे” अलन्तः, सुकुरेण—समस्तजनप्रियत्वात् विशिष्टशब्देन तीर्णः—अभिभूतो रदस्वरो धीः—बुद्धिस्तस्या घरः—गृहं धीघरः, द्वयोः कर्मधारये सुकुरतीर्णरदस्वरधीघरः। “हने रन् (त्)घ च” हन्ति हन्यते । “घरो गृहमिति प्रासादे” । पुनः किंविशिष्टः प्रसरकीर्तिः? ‘अजाहरनिर्दरः’ अजः—नित्यः न हरतीति अहरः, स चासौ निर्दरः—निर्भयो यः सः, त्रयाणां कर्मधारयः ॥ ६ ॥

चकार हिंसोरविशारणं गिरः,

उदारसम्भारसुधीरकेकरः ।

अमारमन्दारसमीरकन्धर-

प्रकार आचारविदौरनीवरः ॥७॥

व्याख्या—‘उदारसम्भारसुधीः’ उदाराः—दातारस्तेषां सम्भारः—गणः “सम्भारः सम्भृती गणे” [अने. स. कां. ३ श्लो. १२१६] इत्युवते; तेन सुष्ठु ध्यामते यः स उदारसम्भारसुधीः—श्रीअरनाथजिनः ‘हिंसीरविशारण’ हिंसीराः—हिंसाः प्रकरणात् कर्माणि तेषां विशारणं—व्यापादनं हिंसीरविशारण कर्मनाशं ‘चकार’ कृतवान् । किम्भूत उदारसम्भारसुधीः? ‘गिरः’ “गृ निगरणे” गिरतीति गिर “नाम्युपान्त्यप्री-क्-ग्-ञः कः” [सि. हे. ५।१।५४] इत्यनेन कप्रत्यय । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधीः? ‘अकेकारः’ न केकारः अकेकार —अवक्रदृष्टिरित्यर्थः । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधीः? ‘अमारमन्दारसमीरकन्धरप्रकारः’ मारः—कन्दर्पः न मारः—अमार; नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अमारः—कुत्सितकन्दर्पः, स एव मन्दारः—मन्दारवृक्षस्तं समीरयति—सम्यक् प्रेरयति यः स अमारमन्दारसमीर; कन्धरः—जलदस्त-त्प्रकारः—तत्समानो दानेनेति गम्यते यः स कन्धरप्रकारः, द्वाभ्यां कर्मधारये अमारमन्दारसमीरकन्धरप्रकारः । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधी? ‘आचारवित्’ आचारं वेत्तीति स तथा । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधी? ‘इ’ दीप्त. “इल् कान्तौ” विव-दन्तः, ईरयति—क्षिपति पापमिति वा ईर्, “ईरण् क्षेपे” विवद-न्तः, पापनाशक इत्यर्थः । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधीः? ‘अनीवरः’ न विद्यते नीवर —पुरुषाकारो यस्य स तथा, सिद्धत्वात्, उणादिकोऽयम्, “णीङ् प्रापणे” नीमीकुतुचेर्दीर्घश्च” [सि. हे. उ. सू. ४४३] इत्यनेन वरट् प्रत्ययः, “नीवर पुरुषाकारः” ॥७॥

विभोरमोमोरमगोरगोचर-

विकारसंहारकरोरडिङ्गः ।

जहार कण्ठीखवारसत्तर ! ,

स वीरकः स्मेरमूषो रसातिरम् ॥८॥

व्याख्या—हे 'कण्ठीखवारसत्तर !' कण्ठीखवानां—गिहानां वारः—निवारणं तस्मिन् सत्—प्रयस्तं तरः—बलं यस्य स कण्ठीखवारसत्तर ! हे मुहूर्त् !, नः 'वीरकः' वीर एव वीरकः—मुमटः अरनाथजिनां 'जहार' अपनयति स्म । किं तत् ? 'अं' व्याधि "अं मान्तो ब्रह्मसंवादे, पञ्चब्रह्मप्रवाचकः । अमने व्याधिते व्याधां" [वि. ष. १६] इत्युक्ते । सः कः ? यत्तदोन्त्याभिगम्यन्धाद् यन्माद्विभोः—स्वामिनः 'अमोमोः' हृषं कृतवान् । कः ? 'अडिङ्गरः' न विद्यन्ते डिङ्गरा—दामाः यस्य स अडिङ्गरः प्रकरणान् माधुजनः । किम्भूताद्विभोः ? 'अमगोः' न विद्यन्ते मा—मानं येषां ते अमाः—निष्प्रमाणा गावः—दीप्यो यस्य स अमगुस्तन्गात्तथा । पुनः किम्भूताद्विभोः ? 'अगोचरविकारसंहारकरोः' न गोचरो यस्मिन् स अगोचरः—अलक्ष्य इत्यर्थः, "विकारो विद्वृत्ती रोगे" [अने. नं. कां. ३ श्लो. १२०३] इति वचनान्, विकाराणां—रोगाणां महारं—विनाशं करोतीति विकारसंहारकरः, अगोचरश्चासौ विकारसंहारकरश्च अगोचरविकारसंहारकरः, एवम्भूतः आ—असौ यस्य स अगोचरविकारसंहारकरास्तस्मात्तथा । "ऋग्वदः पादके मूर्धे धर्म" [ए. श्लो. ११] इति विश्वसम्भुवचनप्रामाण्यात् । किम्भूतो वीरकः ? 'स्मेरमूषः' स्मेरं—विकस्वरं मुखं यस्य स तथा । पुनः किम्भूतो वीरकः ? 'रसातिः' रस्य—घनस्य "रं रत्नं रोदनं घनम्" [मौ. ए. श्लो. ६३] सातिः—दानं यस्य स तथा, "पणूयो दानं" इति घातोः क्तिप्रत्यये रूपम् ॥८॥

भ्रमरवृत्तिरनन्तरमक्षरं,

वितर मे ह्यरणः सुरकन्नर! ।

इपिरवागरभन्दरचत्परः,

कमरतामरसाक्षिरमाधरः ॥६॥

व्याख्या—हे 'सुरकन्नर!' सुराणां—देवानां कं—सुखं नरयति—नयति यः स सुरकन्नरस्तस्यामन्त्रणं हे सुरकन्नर! , "नृ नीतौ" अजन्तः, हे अरजिन! 'मे' मम 'अक्षरं' मुक्तिं 'वितर' प्रयच्छ । 'हि' इति निश्चये । किम्भूतं अक्षरं? 'अनन्तरं' न विद्यन्ते अन्तराणि—रन्ध्राणि यस्मिंस्तत्तथा तत् । किम्भूतस्त्वम्? 'भ्रमरवृत्ति' भ्रमरः—मधुकरस्तद्वद् वृत्तिः—वर्तनं यस्य स तथा । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अरणः' सङ्ग्रामहीनः, शत्रूणामभावात् । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'इपिरवागरभन्दरचत्परः' इपिराः—सेव्याः, यदुक्तमुणादिवृत्त्यां — "इपिर अग्निः आहारः क्षिप्रः सेव्यश्च" [सि. हे. उ. सू. ४१६] इति, वागराः—विद्वांसोऽन्तिपद., यदुक्तं हेमानेकार्ये —

"वागरो वारके क्षाणे, निनरे वाडवे वृके ॥

मुमुक्षी पण्डिते चापि, [परित्यक्तभयेऽपि च] ।"

[अने. स. कां. ३ दलो. ११६६, १२००]

इति, इपिराश्च ते वागराश्च इपिरवागरास्तेषां भन्दरचति—भद्ररचनं<sup>१</sup> इयति यः स तथा, "रचन् कृत्वा" "इकिस्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति तिवि सिद्धम् । पुनः किम्भूतस्त्वम्? 'कमरतामरसाक्षिः' कमरं—कोमलं "कमरो मूर्गः कार्मुकं

१. "भन्द वत्याणे सोक्षरे च" [अने. मं. कां. २ दलो. २४३]

कोमलं चौरः[कान्त]श्च"[सि. हे. उ. सू. ३६७]इति ह्रमोणादि-  
वृत्तिवचनात्, यत्तामरसं—पद्मं ततुल्ये अक्षिणी—नेत्रे यस्य स  
तथा । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अमाधरः' न मा अमा—अमाया  
तां धरति यः स तथा । "मा माया" इति गोपालभट्टीवचन-  
प्रामाण्यात् ॥६॥

चटरविघ्नरवैरिरसाहरः,

स्वतरसा स्पर्णं करताद् गरः ।

सुनर आवरतः स्मरतीदरः,

स विरसः सरलस्वरणस्तरः ॥१०॥

व्याख्या — 'सः' अरनाथजिनः 'स्पर्णं' रक्षणं 'करतात्'  
क्रियात् । "स्मृ स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणने" अनट्प्रत्ययान्तः । किम्भूतः  
सः? 'स्वतरसा'स्वबलेन-स्वकीयवीर्येण'चटरविघ्नरवैरिरसाहरः'  
चटराः—तस्कराः, "चटण् वेष्टने" उणादिकोऽरप्रत्ययः, चटरः—  
तस्करः विघ्नं—उपद्रवं रातीति विघ्नराः ते च ते वैरिणश्च विघ्न-  
रवैरिणः, चटराश्च विघ्नरवैरिणश्च चटरविघ्नरवैरिणस्तेषां  
"रंतीक्षणे कर्कटे दृढे" [वि. ए. १०१.] इत्युक्तेः रा—दृढा या सा—  
लक्ष्मीस्तस्या हरः—हरणं यस्य स तथा । किम्भूतः सः ? 'गरः'  
"गृ घृ सेके" गरति—भविकजनं देशनाजलेन सिञ्चति यः स  
तथा । स इति कः ? यं 'सुनरः' शोभनपुमान् 'आदरतः'  
आदरात् 'स्मरति' ध्यायति, जातावेकवचनम् । पुनः किम्भूतः  
सः ? 'इदरः'[इः—]कामस्तं द्रुगिदृन्निवि (?) दृणाति यः स तथा ।  
पुनः किम्भूतः सः ? 'विरसः' विगतरसः । पुनः किम्भूतः सः ?  
'सरलस्वरणः' सरलाः—अकुटिलास्तेषु स्वरणं—अतिशयेन गमनं

यस्य यस्माद्वा स तथा । पुनः किम्भूतः सः ? 'तरः' तरति  
दुस्तरं संसारसागरमिति स तथा ॥१०॥

सुचरणं चरतः फिरतः करं,

प्रहरतः करणं धरतः सुरम् ।

व्रतरतश्चिरमाशरणाङ्गरः,

सुनुरकं क्षुरतादुरगादरः ॥११॥

व्याख्या—'अरः' अरजिनः 'अकं' दुःखं 'क्ष-[?] क्षु]रतात्'  
छिन्द्यात् । कस्मात् ? 'उरगात्' उरगः—सर्पस्तत्प्रायत्वाद् उरगः  
संसारस्तस्मात् । कस्य ? 'सुनुः' श्वावकस्येति यावत् । किम्भूतस्य  
सुनुः ? 'सुचरण' मुष्टु चारित्र देशविरतिलक्षण 'चरतः' सेव-  
मानस्य । पुनः किम्भूतस्य सुनु ? 'कर' "कृब् वधे" अलन्तः,  
करं—वधं 'किरतः' क्षिपतस्त्यजत इति यावत् । पुनः किम्भूतस्य  
सुनुः ? 'करण' इन्द्रिय प्रहरतः । पुनः किम्भूतस्य सुनु ? 'सुर'  
मुष्टु रा—दीप्तियंस्य स सुरस्त सुर—जिन 'धरतः' विभ्रतः,  
मनसीति गम्यम् । पुनः किम्भूतस्य सुनु ? 'चिर' चिरकालं  
'व्रतरतः' व्रतानि द्वादशसङ्घाकानि, तेषु रमते इति व्रतरत्  
तस्य, "गमा वधी" [सि. हे. ४।२।१८] इति सूत्रेण क्वपि सिद्धम् ।  
अकारः पादपूरणार्थः । किम्भूतोऽरः ? 'अशरणाङ्गरस्' "शृश  
हिंसने" अनट्प्रत्ययान्तः, न विद्यते शरणं—हिंसन येषां श्रवणात्  
तानि अशरणानि, एवम्भूतानि यानि अङ्गानि—आचाराङ्गाद्येका-  
दशाङ्गानि तानि, "रस् शब्दे" विवदन्तः, रसति—शब्दायते यः  
ग तथा ॥११॥



धीरैरमारिरमृतं रडामरं

सभ्यैरभाणि रसनं रतान्तरम् ।

उच्चैरभीतिरनगारशिशिरः,

पातूरनूतिरनपूरघृष्टिरम् । ॥१२॥

ललिता-छन्दः<sup>१</sup>

व्याख्या—स इति पदमध्याहार्यम् । 'अनगारशिशिरः' न विद्यते<sup>२</sup> अगारं—गृहं येषां ते अनगाराः—साधवस्तेषां शिशिरः—पुञ्जो यस्मिन् सोऽनगारशिशिरः—श्रीअरनाथतीर्थकरः 'पातु' रक्षतु । कं ? 'अं' जनं "अः कृष्णः शङ्करो ब्रह्मा, शक्रः सोमोऽनिलोऽनलः । सूर्यः प्राणो जनः" [सौ. ए. २] इति सौभरि-वचनात् । स कः? यस्य 'रसनं' ध्वनित "रसनं ध्वनिते"[अने.सं. का. ३ श्लो. १००१] इति वचनात् । 'अमृतं' सुधासम 'उच्चैः' अतिशयेन 'अभाणि' कथितं, अमृतमपि सर्वजनतुष्टिपुष्टिकरं तथेदमपि । कैः? 'धीरैः' विद्वद्भिः । किम्भूतैः धीरैः? 'सभ्यैः' सभायोग्यैः । किम्भूतं रसनं? 'रडामरं' "रय गतौ" "क्वचित्" [सि.हे.पा.५।१।७१]इति, रयन्ते-तीर्थकरविलोकनादपि नष्ट्वा यान्ति ये ते राः—दीर्घव्यास्तेषां डामरं—भयङ्करं यत्तत्तथा तत् । पुनः किम्भूतं रसनं? 'रतान्तरं' रतानां—वचनश्रवणाऽऽसक्तानां अन्तरं—अवधिर्धर्ममर्यादा यस्मात्तत्तथा तत् ।

“अन्तरं रन्ध्रावकाशयोः ॥

मध्ये विनार्थे तादर्थ्ये विशेषेऽवसरेऽवधौ ।”

[अने. सं. का. ३ श्लो. १११४-१११५]

१. "धीरैरभाणि ललिता तभी जरी" ३।५७ इति वृत्तरत्नाकरः ।
२. "स्यादागारमगारवत् ।" शब्दरत्नाकरः कां ४श्लो. ३६.

इति हेमसूरयः । किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'अमारिः' न विद्यते  
 मारिः—मरणं यस्मिन् स तथा । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः ?  
 'अभीतिः' निर्भयः । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'ऊः'  
 निशाकरः, तद्वदाह्लादकत्वात् । "ऊः परेतो जडत्वष्टा, विवस्वा-  
 नग्निसारथिः । वह्निनिशाकरः" [सौ. ए. ७] इति वचनात् ।  
 पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'अनूतिः' न विद्यते नूतिः—स्तवनं  
 अन्येषां देवानां यस्मिन् स तथा, अस्तोता इत्यर्थः । पुनः  
 किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'अनपूः' "पुरस् अग्रगमने" क्विपि  
 पूः—अग्रेसरः, न पूः अपूः, न अपूः अनपूः, अग्रेसर इत्यर्थः ।  
 पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'अघृष्टिः' न विद्यते घृष्टिः—  
 स्पर्द्धा यस्य स तथा, "घृष्टिः स्पर्द्धाघर्षणयोः" [अने. सं.  
 कां. २ दलो. १०३] इति हेमानंकार्योक्तेः ॥ १२ ॥

अररतात् परणं जरणं भर-

मररहच्च र आभरपा खरः ।

नघरणं शरणं वरताद् घुरः,

सुखरयोऽमरदो भरतस्मरः ॥१३॥

द्रुतविलम्बितच्छन्दः<sup>१</sup>

व्याख्या—स इति पदमध्याहार्यम् । 'सुखरयः' सुखस्य  
 रयः—प्राप्तिर्यस्मात् सुखरयः—श्रीअरनाथजिनः 'शरणं' श्राणं—  
 रक्षणं 'वरतात्' त्रियात् । कथम्भूतं शरणं ? 'नघरणं' "घृ-  
 भासि" अनटि घरण, नानां—नराणां घरणं—भासनं यस्मात्तत्  
 तथा तत्, "नो नरे च मनाथेऽपि" [वि.ए.७६] इत्युक्तेः । कस्य ?

१. "द्रुतविलम्बितमाह गभी भरी" [३।४८] वृत्तरत्नाकरः ।

‘रः’ “रा दानाऽऽदानयोः” इत्युक्तेः राति-पञ्चमहाप्रतभारं गृह्णाति यः स रास्तस्य रः-साधोः, जातावेकवचनम् । स कः? यः ‘परणं’ “पृट् प्रीतौ” अन्प्रत्ययः, परणं-प्रीति ‘अरस्तात्’ अनिर्मापयत् । ‘चः’ पुनरर्थे, यः ‘जरणं’ न्यक्कारं ‘अररहत्’ अत्यजयत् । कथं? ‘भरम्’ अतिशयेन, केन? ‘आभरपा’ आं-लक्ष्मी विभक्ति-पुष्पाति योऽसौ आभरः, पाति-संसारदुःख-जरामरणतो जगत्त्रयं रक्षति योऽसौ पाः-वर्मः, आभरश्चासौ पाश्च आभरपास्तेन आभरपा । किम्भूतः सुखरयः? ‘खरः’ घर्मव्यवहारपटुः “सत्यसन्धः खरो ज्ञेयः, खरोऽपि पुरपो मतः । खरो रासभ इत्युक्तो, व्यवहारे पटुः खरः ॥१॥ इति ध्वनि-मञ्जर्याम् । पुनः किम्भूतः सुखरयः? ‘घुरः’ “घुरश् घ्वनी भीमार्थे” अजन्तः, घुरति-शब्दयति स्याद्वादमिति असकौ तथा । पुनः किम्भूतः सुखरयः? ‘अमरदः’ “अम रोगे” अमाः-रोगास्तान् “रद विलेखने” रदति योऽसौ तथा । पुनः किम्भूतः सुखरयः? ‘भरतस्मरः’ मरताः-प्राणिनः, यदुक्तमुष्पादी-“मरतः मृत्युः अग्निः प्राणी च” [सि. हे. उ. सू. २०७] इति तैः स्मर्यते यः स तथा ॥१३॥

चुकोर भट्टारकपौरयोः पुरः,

शमारवाहारमदीरघर्घरः ।

कठेरकान्तारसुवारणस्थिरः,

कठोरकालूरविदारसायुरः ॥१४॥

व्याख्या—‘अघर्घरः’ न विद्यते घर्घरः-हास्यं यस्याऽसौ अघर्घरः-श्रीअरनाथजिनः ‘शमारवाहारं’ शं-सुखं [त]स्य ‘आरः’ प्रापणं यस्मात् स शमारः, ऊः-रक्षाः “ऊः शब्दो रक्षणे” इति

१ विश्वशम्भूक्तेः, तं आहारयति—आनयति यः स वाहारः—धर्मः, शमारश्चासी वाहाराश्च शमारवाहारस्तं शमारवाहारं—धर्मं 'चुकोर' कथयाञ्चकार, "कुरत् शब्दे" इत्यस्य परोक्ष्यां णपि रूपम् । क्व ? 'पुरः' अग्रे, कयोः? 'भट्टारकपीरयोः' भट्टारकाः—पूज्याः प्रस्तावाद् गणधरा देवा वा, पीरः—नागरः, भट्टारकश्च पीरश्च भट्टारकपीरी तयोः, अत्र जातावेकवचनम् । किम्भूतोऽघर्घरः? 'अदौ' न दुनोति जनान् विचि अदौः । पुनः किम्भूतोऽघर्घरः? 'कठोरकान्तारसुवारणस्थिरः' कठोर—दरिद्रः भावप्रधाननिर्देशात् कठोरः—दारिद्र्यम्, उणादिकोऽयं शब्दः, स एव कान्तारं—वनं [तत्र] सुवारणाः—शोभनगजास्तेष्वपि स्थिर—दृढो यः सः सुवारणस्थिरः, तद्भञ्जने सुवारणस्थिर इव सुवारणस्थिरो यस्य [यः स] तथा । पुनः किम्भूतोऽघर्घरः? 'कठोरकालूरविदारसायुः' कठोरं—दृढं कं—दुःखं येषां ते कठोरकाः, "क शिरः कं सुखं तोयं, पयो दुःखम्" [सौ. ए. २०] इत्युक्तेः, कठोरकाश्च ते आलूराश्च—विटाः कठोरकालूरास्तेषां विगतो दारः—भयं यस्मात् स कठोरकालूरविदारः, आलूरशब्द उणादिविटवाची, सायाः—लक्ष्म्याः आयुः—जीवनं यस्मात् मायुः, द्वाभ्यां कर्मधारये कठोरकालूरविदारसायुः, "इण्क्वती" "कृवापाजिस्वदिसाध्यशौ स्नासनिजानिरहीण्भ्य उण्" [मि. हे. उ. सू. १] इति सूत्रेण उण् प्रत्यये आयुरिति, "पुरुषः शकटं औषधं जीवनं पुरुषः पुत्रो वा" इति । अकारः पादपूरणार्थः ॥१४॥

१. उदरणभिदं विश्वशम्भुप्रणीतकाशरनाममात्राया "ऊ.—रत्तार्थ-  
वाचक. ॥११॥" इति रूपेण विद्यते ।

विज्ञैरमानैरसितैरकारि र-

मर्च्यैरनाकैरहतेररुड्भिर ।

द्वैरसानैरसनेरसंहर !

लक्ष्मीं ररो धीरकुटेर ! सोऽध्वरः ॥१५॥

व्याख्या—हे 'अकुटेर !' कुटेरः—शट्, न कुटेरः अकुटे-  
रस्तत्सम्प्रोषणं हे अकुटेर !—हे पण्डित ! 'मः' अरजिनः 'लक्ष्मी'  
धियं 'ररो' ददौ । किम्भूतः मः ? 'धीः' "ध्वं चिन्तायाम्"  
ध्यायतीति किपि धीः, ध्यातेत्यर्थः । पुनः किम्भूतः मः ?  
'अध्वरः' "ध्वं कीटिल्ये" न ध्वरति यः स तथा । स कः ?  
यस्य 'विज्ञैः' विद्वद्भिः 'रं' "रं शब्दे" हे प्रत्यये रायते—  
शब्दघते जनैरिति गुणगानं 'अकारि' कृतम् । किम्भूतैर्विज्ञैः ?  
'अमानैः' निरहङ्कारैः । पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः ? 'असितैः' अचक्षुः ।  
पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः ? 'अहतेः' अवधकस्य 'अर्च्यैः' अर्चनीयैः ।  
पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः ? 'अनाकैः' "अन प्राणने" अनन्ति—जीवन्तीति  
अनाः—प्राणिनस्तेषां आ—ममन्तात् कं—मुखं येभ्यस्ते अनाकास्तैः ।  
पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः ? 'अरुड्भिः' न विद्यते रुट्—ईर्ष्या येषां ते  
अरुपस्तैः । अत्राकारः सम्बोधनाद्यंमध्ययम् । पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः ?  
'द्वैः' "दिवु श्रीटाविजगीपाव्यवहारद्युतिस्तुति [मोदमदस्वप्न-  
कान्ति] गतिपु" इति वचनात्, दीव्यन्ति—स्तुवन्तीति देवास्तैः,  
स्तोतृभिरित्यर्थः । पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः ? 'अमानैः' "पोच् नाशे"  
अनटि मानम्, न विद्यते मानं—नाशो येषां ते अमानास्तैः । किम्भूत  
हे अकुटेर ! ? "पण् मम्भवती", "इकिदितव् स्वरूपार्थे" [सि.  
हे. १।३।१३८] इति इप्रत्यये सनिः—भक्तिः, न विद्यते सनियस्य

स असनिस्तस्य असनेः—अभक्तस्य 'असंहार', न विनाशक !,  
निरीर्षत्वाद् भक्ताभक्तयोरुपरि ममचेताः ॥१५॥

ववार लक्ष्मीररतीरधीश्वरः, —

समौरकण्डूरसुधीरकट्वरः ।

सुधारभृत्पूरतुपारदीप्तिरः,

सुनारशौण्डीरकुटीरतुष्टिरः ॥१६॥

व्याख्या—'अधीश्वरः' श्रीअरनाथजिनः 'लक्ष्मीः' श्रीः  
'ववार' वृतवान् । लक्ष्मीरित्यत्र बहुवचनं नानाप्रकारत्वात्  
सङ्गतमेवेति । किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'अरतीः' अरति—असुखतां  
एति—क्षिपति योसौ तथा, "इण् क्षेपे" क्विबन्तः । पुनः किम्भू-  
तोऽधीश्वरः ? 'समौः' सह मया—लक्ष्म्या वर्तन्ते ये ते समास्तैः  
अवति—वर्द्धते यः स तथा, अत्र अवधातुर्वृद्धयर्थो ज्ञेयः । पुनः  
किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'अकण्डूरसुधीः' न 'कण्डूराः अकण्डूराः—  
अकण्डूमन्तः सुधियः—पण्डिता यस्य स तथा । कण्डूर इति कथं  
शब्दनिष्पत्तिः? उच्यते—“मध्वादिभ्यो रः” [सि हे. ७।२।२६]  
मध्वादिभ्यो मत्वर्थे रः प्रत्ययो भवति इति सिद्ध रूपम् ।  
पुनः किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'अकट्वरः' “कट्वरस्त्वतिकुत्सितः”  
[अभि. चि. का. ३ श्लो. १४] इति हेमसूरयः, न कट्वरो  
अकट्वरः, अकुत्सित इत्यर्थः । पुनः किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'सुधार-  
भृत्पूरतुपारदीप्तिरः' “धारोत्कर्षे रङ्गाद्यग्रे, गन्याग्रे याजिनां  
गनौ ॥ जलादिपाते गन्तव्यां” [अने. सं. का. २. श्लो. ४३८.  
४३९] इति ह्यमानेकार्थवचनात् । सु-शोभना धारा-सन्ततिः  
शिष्यप्रशिक्षादिका येषां ते मुधाराः, “डुमून् धारणपोषणयोः”

विभ्रति—धारयन्ति गणमिति भृतः—गणधरास्त्रयस्त्रिंशत्सहस्रचा-  
काः, सुधाराश्च ते भृतश्च सुधारभृतस्तेषां पूरः—सुधारभृत्पूरः  
तदाह्लादकत्वेन तुषारदीप्तिः—चन्द्रमास्तद्वद् राजते—शोभते यः  
स तथा । पुनः किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'सुनारशौण्डीरकुटीर-  
तुष्टिरः', नराणां समूहो नार, सुष्टु नारं सुनारं, तस्मिन्  
शौण्डीराः—सत्यवन्तो ये ते सुनारशौण्डीरास्तेषां कुटीरः—राशि-  
स्तस्य तुष्टेः—सन्तोषस्य रा—दानं यस्य स तथा । कुटीरशब्दः  
औणादिकोऽस्ति राशिवाचकः ॥१६॥

भव्यैरगोभिरहितैरयुतैरकह्वरं,

हीनैरधीभिरमितैरकरैरदुर्मुः ।

सुस्वैरमाररमणैरजितैरकार्यं,

पुष्टैर नूतिरगदैरनरीरतेः पुरः ॥१७॥

मृदङ्गकच्छन्दः ।

व्याख्या—'अदुर्मुः' "मूर्धो हिंसाया" क्विन्तः, दुष्टा मूः—  
दुर्मुः, न विद्यते दुर्मुः—जीर्वाहिंसा यस्याती अदुर्मुस्तस्य अदुर्मुः—  
थीअरनायजिनस्य 'अरं' अत्यर्थं 'नूतिः' स्तुतिः—गुणोत्कीर्त्तनं  
'अकारि' कृता । 'कैः'? 'भव्यैः' भविकजीवैः इति सम्बन्धः ।  
कयमकारि? 'अकह्वरं' "ह्व कौटिल्ये" अलन्तः, अकाद्—  
दुःगाद् ह्वरः—कौटिल्यं यस्मात्तत् अकह्वरं—ससुरामित्यर्थः, एवं  
यथा स्यात्तथा । अथ भव्यानां विशेषणानि—किम्भूतैर्भव्यैः ?  
'अगोभिः' न विद्यते गावः—रिचरणाः येषां ते अगावः—अदीप्तास्तैः  
अगोभिः 'अहितैः' शत्रुभिः 'अयुतैः' न सहितैः, निस्तेजःशत्रु-

१. "रभो जो रो मृदङ्गाः" [२-२६१] छन्दोनुशासनम् ।

रहितैरित्यर्थः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः ? 'अधीभिः' न धियः अधियः, नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अधियः—कुबुद्धयस्ताभिः अधीभिः—कुबुद्धिभिः 'हीनैः' रहितैः, सुमतिभिरित्यर्थः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः ? 'अमितैः' न प्रमितैः, प्रचुरैरित्यर्थः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः ? 'अकरैः' दण्डरहितैः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः ? 'सुस्वैः' शोभनद्रव्यैः, धर्मोपाजितधनत्वात् । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः ? 'अमाररमणैः' न विद्यन्ते माराः—विघ्ना येषां ते अमाराः—निविघ्नाः, अत एव रमणाः—रमणीया ये तेऽमाररमणास्तैः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः ? 'अजिनैः' अपराभूतैः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः ? 'पुष्टैः' पुष्टिमद्भिः, अकारः पादपूरणार्थमव्ययम्, अत एव 'अगदैः' नीरोगैः । किम्भूतस्य अदुर्मुर् ? 'अनरीरतेः' न अरयः—न शत्रव इति अनरय—मित्राणि तेषा ईरति—धर्मादिकार्येषु प्रेरणा यस्य स तथा तस्य । "ईर् प्रेरणे" "इकिश्चित् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।१।१३८] इति तिवि ईरति सिद्धम् । पुनः किम्भूतस्य अदुर्मुर् ? 'पुर' "पुरत् अग्रगमने" क्विबन्तः, पू—अग्रेसर-स्तस्य ॥१७॥

कठरकदरभङ्गे रम्यसारङ्गसारं,

मठरविसरनाशं रण्डभारण्डचारम् ।

अमरनिकरपूज्यं रङ्गकारङ्गपारं,

वमरकदरसङ्घारक्तमारं सुतारम् ॥१८॥

मालिनीच्छन्दः ।



व्याख्या—‘मुतारं’ सुष्ठु तारं—उच्चैः धमि[? ध्वनि] यंत्य  
स [त] मुतारं—श्रीजरनायजिनं, अहं ‘आरं’ प्राप्तवान्, देवत्वेनेति  
गम्यम् । किम्भूतं मुतारं ? ‘कठरकदरभङ्गे रम्यसारङ्गसारं’  
कठरः—दरिद्रः.. भावप्रधाननिर्देशात् . कठरः—शरिद्रयं स एव  
कदरः—वृक्षविशेषस्तस्य भङ्गः—भङ्गनं तस्मिन् कठरकदरभङ्गे  
रम्यसारङ्गसारमित्ये—प्रधानहस्तिवलयनिव रम्यसारङ्गसारस्तम् ।  
कठरकदरगद्गदादीणादिकौ । पुनः किम्भूतं मुतारं ? ‘मठर-  
विसरनाशं मठराः—अज्ञानिनः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—“मठरं ऋषिः  
अज्ञानी गोत्रं च” [सि. हे. उ. सू. ३६७] इति, तेषां विसरः—  
समूहस्तस्य<sup>१</sup> नाशो यस्मात् स मठरविसरनाशस्तम् । पुनः किम्भूतं  
मुतारं ? ‘रण्डभारण्डचारं’ रण्डाः—निस्त्रीकाः भरण्डाः—भण्डाः  
भरण्डानां समूहो भारण्डं, रण्डाश्च भारण्डानि च रण्डभारण्डानि  
चरणं चारः, रण्डभारण्डानां चारः—गमनं यस्मात् स तथा तम् ।  
पुनः किम्भूतं मुतारं ? ‘अमरनिकरपूज्यं’ अमराः—देवास्तेषां  
निकरः—वृन्दं तस्य पूज्यः—पूजनीयो यः स तथा तम् । पुनः  
किम्भूतं मुतारं ? ‘रङ्गकारङ्गपारं’ करङ्गाः—कर्मशीलाः,  
करङ्गा एव कारङ्गाः, स्वायें अण्, रङ्गस्य—ह्यंविशेषस्य कारङ्गा  
ये ते रङ्गकारङ्गास्तेषां पारः—पालनं यस्य स तथा तम् ।  
पुनः किम्भूतं मुतारं ? ‘वमरकृदरसङ्घारक्तं’ वमराः—दुर्मैधसो ये  
कृदराः—सर्वं कर्म प्रवृत्तदस्युजनास्तेषां न ह्यो वमरकृदरसङ्घस्तत्र  
अरक्तः—अनामक्तो यः स तथा तम् ॥१८॥

विभुरनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूर-

प्रपुरजदरहोभी रक्षकं रज्यसेऽर । १ ।

यतिरदितिरहङ्कारक्षितेरक्षधार-

मकरमुदिरसुश्रीरट्टसंरम्भवारः ॥१६॥

व्याख्या—हे 'अर!' अरनाथ! त्व 'रज्यसे' रङ्ग  
 कुरूपे । कै. ? 'रक्षकै.' रक्षन्तीति रक्षकास्तैः रक्षकैः, साधु-  
 भिरित्यर्थः । किम्भूतं रक्षकं ? 'अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूर-  
 प्रपुरजदरहोभि' न विद्यते अकं—दु.खं यस्मिन् सोऽनकः एवम्भूतो  
 रमङ्घ - धनममूहो यस्याः सा अनकरसङ्घा, सा चासौ आ  
 च—रक्षमीः अनकरसङ्घा, तथा रक्षिता—रसोकृता आरक्षणशूराः—  
 समन्ताज्जीवपालनमुभया ये ते अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूराः  
 "पुर् गुरत् ऐश्वर्यं दीप्योः" प्रपुरति—प्रकषेण सर्वज्ञानोत्तमत्वाद्  
 ईष्टे यत्तन् प्रपुरं—केवलज्ञानं तेन जत्—अत्यर्थं जायमानं अरहः—  
 अच्छन्नं येषां ते प्रपुरजदरहसः, अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूराश्च  
 ते प्रपुरजदरहसश्च अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूरप्रपुरजदरहस-  
 स्तैः । जत् इति कथं निष्पत्तिरिति ? "जनैचि प्रादुभवि" इति  
 धातोः घत्तरि जञ्जन्तीति धातये "जाज्ञा—" [गि. हे. ४।२।१०४]  
 इति गूत्रेण जादेशे "श्नधातः" [गि. हे. ४।२।१६६] इत्यात्प्लुकि  
 जन् इति मिद्धम् । किम्भूतस्य हे अर ! ? 'विभुः' स्वामी,  
 सामान्यकेवलितामिति गम्यते । पुनः किम्भूतस्य ? 'यतिः'  
 गापु. । पुनः किम्भूतस्य ? 'अदिति.' अताण्डनः । पुनः  
 किम्भूतस्य ? 'अहङ्कारक्षिते.' अहङ्कारस्य—रमयस्य क्षितं—शायं  
 णि—प्राप्नोति यः ग तथा । पुनः किम्भूतस्य ? 'अक्षधारम-

करमुदिः' अक्षः—ज्ञानं, "अक्षो रयस्यावयवे, व्यवहारे विभीतके ।  
 प्रासके शकटे कर्षे, तुषे ज्ञानात्मयोरपि ॥" [अने. सं. का. २  
 श्लो. ५६०] इति हेमानेकार्थोक्तेः, अक्षं—ज्ञानं धरतीति अक्षधारः,  
 कर्मण्यण्, मकरः—निधिविशेषः, स इव मुदिः—प्रमोदो यस्मात्  
 मः मकरमुदिः, यथा हि दरिद्राणां निधिविलोकनात्प्रमोदस्तथा  
 अस्मादपीति, "मुद् हर्षे" "इकिश्चित् स्वरूपार्थे" [सि. हे.  
 ५।३।१३८] इति इप्रत्ययः, अक्षधारश्चासौ मकरमुदिश्चेति  
 कर्मधारयः । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अमुथ्रीः' एषु—जनेषु सुथ्रीः—  
 शोभनथ्रीयस्यासौ तथा, "अः कृष्णः गङ्गरो ब्रह्मा, शक्रः सोमो-  
 ऽनिलोऽनलः । सूर्यः प्राणो जनः" [सौ. ए. २] इति वचन-  
 प्रामाण्यात् । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अट्टसरम्भवारः' अट्टं—अत्यर्थं  
 संरम्भ—वरीरम्भोऽर्हतां यस्मिन् स अट्टसरम्भः—तिथ्येवसं, तस्य  
 वारः—वरणं यस्य स तथा, "अट्टो हट्टाट्टालकयोर्मंशे" ।  
 [अने. सं. का. २. श्लो. ६४] इति वचनात् ॥१६॥

नाथैरनुत्तरनरैरभिहारसत्वरै-

भद्रैरदैररहरैरमलैरघाशरः ।

देवैरवस्करैरहरवहारकूत्करै-

नष्टैरपाठि रसिकैरदरैरवल्लरः ॥२०॥

मुदङ्गकच्छन्दः ।

व्याख्या—अनुत्तराः—प्रधानाः ये नराः—मनुष्याः अनु-  
 त्तरनरास्तैः अनुत्तरनरैः, अयं—गुरुरिति शेषः, 'अघाशरः' "शु,  
 हिसने" अलन्तः, अघानां—पापानां आ—नमन्तात् शरः—हिसनं

१. "प्रासके शकटे कर्षे, ज्ञाने चात्मनि रावनी" । इति मुदिते

यस्मात् म. अधाशरः—पापनाशकः 'अपाठि'. पठित इति सम्बन्धः।  
किम्भूनोऽवाशरः ? 'अवल्लरः' "वल्लरं कुक्षमङ्गयोः क्षेत्रे  
[अने. सं. का. ३ श्लो. ११६८]—इति  
भगनाद्, न विद्यन्ते वल्लराणि—क्षेत्राणि धान्यवपनस्थानानि  
यस्यासौ तथा, त्यक्तगृहवासत्वात्। अथ सर्वाणि तृतीयाविशेष-  
णानि—किम्भूतैरनुत्तरनरैः ? 'नार्थैः' स्वामिभिः। पुनः किम्भूतै-  
रनुत्तरनरैः ? 'अभिहारसत्वरभद्रैः' "अभिहारः सन्नहने, चौरि-  
कोद्यमयोरपि" [अने. सं. का. ४ श्लो, १६०८] इत्युक्ते. अभिहारेण-  
उद्यमेन सत्वरं—त्वरित भद्र—मङ्गलं येभ्यस्ते तथा तैः। पुनः  
किम्भूतैरनुत्तरनरैः ? 'अदैः' न द्यन्ति जीवानिति अदास्तैः,  
दयावद्भिरित्यर्थः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः ? 'अरहरैः' ऋणन्ति—  
प्राणिनोऽप्यन्तदु. खं प्राप्नुवन्ति येभ्यस्तानि अराणि—घातिकर्माणि,  
तानि हरन्तीति अरहरास्तैः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः ?  
'अमलैः' निमलैः, गुणोज्ज्वलैरित्यर्थः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः ?  
'देवैः' दीव्यन्ति—धर्मं रमन्ते इति देवास्तैः, अथवा 'देवैः' सुरैः।  
किम्भूतैः सुरैः ? 'अवस्कररहैः' "रह. त्यजि" अलन्तः, अव-  
स्करस्य—गूयस्य रह—त्यजनं येषां ते तथा तैः, "अवस्करो  
गूयगुह्ययोः" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६०७] इत्युक्तेः, देवाना-  
माहाराभावे नीहारस्याप्यभाव इति। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः ?  
'अवहारकूत्करनष्टैः' "अवहारस्तु युद्धादिविथान्तौ ग्राह-  
चौरयोः।" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६०८] इत्युक्तेः अव-  
हाराणां—चौराणां यः कूत्करः—कुत्मितममूहस्तस्मात्प्रष्टा गता ये  
ते तथा तैः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः ? 'रसिकैः' इति सुगमम्।  
पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः ? 'अदरैः' निर्भीकैः ॥२०॥

खहरभिमरनाशं रञ्जनारन्तिभूर-

हमुर दधर वाढं रङ्गनारङ्गमौर ! ।

प्रखरमिहिरकान्तेरन्धकारक्षयोर-

समररिपुरनिष्टारक्षसोऽरम्भधूर ! ॥२२॥

मालिनीच्छन्दः ।

व्याख्या—हे 'रञ्जनारन्तिभूः!' रञ्जनाः—रञ्जकाः  
 "रञ्जतं रञ्जके" [रक्तचन्दने] [अने सं. का. ३ श्लो. १००२]  
 इति वचनात्, [तेषां] या आ—लक्ष्मीमनया रम्यादिति रञ्जना-  
 रन्तिः, "तिक्कृतौ नाम्नि" [सि. हे, ५।१।७१] इत्यनेन सूत्रेण  
 सिद्धिर्भवति, भद्रं यस्मात् सः भूः, विववन्तः, रञ्जनारन्तिश्चासौ  
 भूश्च रञ्जनारन्तिभूस्तत्प्रभोवनं हे रञ्जनारन्तिभूः! हे अरनाथ!  
 अहं 'वाढ' अत्यर्थं 'दधर' कृतवान् । किं तत् ? 'अभिमरनाशं'  
 "अभिमरो ववे ॥ स्ववलात् साध्वसे [युद्धे]" [अने. सं. का. ३.  
 श्लो. १६०५, १६०६] इति हेमानेकार्यवचनात्, अभिमरस्य—  
 साध्वसस्य नाशः अभिमरनाशस्तं—अभिमरनाशं—भयनिर्नाशं,  
 कस्मात् ? 'उः' धर्मात् । "ऋगदः पावके मूर्ये धर्मे [दानं घने  
 पुमान्]" [ए. ना. ११] इति विश्वशम्भुवचनान् । 'अः' पादपूर्त्ता ।  
 किम्भूतो हे [रञ्जनारन्तिभूः! ?] 'गदः' निर्दोषत्वाग्निमलः  
 "गदः सोदयोहरयोदंरदन्तसितेषु च ।" [अने सं. का. २  
 श्लो. ४१४] इति वचनान् । किम्भूतं हे रञ्जनारन्तिभूः! ?  
 'रङ्गनारङ्गमौरः!' रङ्गानि—कृष्णानि यानि नारङ्गानि—जन्मिनः  
 "नारङ्गं विटजन्मिनोः" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७२१] इति

१. "गदः स्वादस्वहरयोः" इति मुद्रिने ।

वचनात्, तेषा मां-ऋक्षमी अवति-नाशयति योसौ रङ्गनार-  
ङ्गमी., तस्य सम्बोधनं हे रङ्गनारङ्गमी. ! । एवंविधोऽतः अकारो  
निषेधार्थः । पुनः किम्भूत हे रञ्जनारन्तिभूः ! ? 'योः' प्राणकः ।  
पुनः किम्भूत हे रञ्जनारन्तिभूः ! ? 'अरम्भधूर !' न विद्यन्ते  
रम्भा-देवाङ्गनास्तत्सदृशत्वात् रम्भा-रूपसुन्दर्यः सुन्दर्यो येषां  
ते अरम्भाः-वैरङ्गिका, "धूरंद् गतो" अलन्तः, गत्यर्थानां  
प्राप्त्यर्थत्वात्, अरम्भाना धूर-प्राप्तिर्यस्यासौ तथा, स सम्बो-  
ध्यते । किम्भूतोऽहं ? 'असमररिपुः' न विद्यन्ते समररिपवः-  
युद्धशत्रवो यस्य स तथा । किम्भूतस्य उः ? 'प्रखरमिहिरकान्तेः'  
प्रखर-अत्यन्तकठोरः, "प्रखरः पुनः ॥ वेसरे ह्यसन्ताहे,  
कुक्कुरेऽतिभृशं खरे ।" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७०-७१]  
इति वचनात्, स चासौ मिहिरः-सूर्यस्तस्य कान्तिरिव-रोचि-  
रिव यः स प्रखरमिहिरकान्तिस्तस्य, कस्मिन् ? 'अन्धकारक्षे'  
अन्धकारस्य-अज्ञानतमसः क्ष-क्षयं अन्धकारक्षं तस्मिन्,  
अज्ञानतमोविनाशने सूर्यस्येत्यर्थः । पुनः किम्भूतस्य उः ? 'अनि-  
ष्टारक्षस' अनिष्टानि-अनभीष्टानि आ-समन्ताद् रक्षासि-  
राक्षसा यस्मात् स तथा तस्य, राक्षस्यभयाभावस्येत्यर्थः ॥२१॥

विदारहृत्तरिमकारशाङ्कुरं,

विहारफत्तरिमशारभास्वरम् ।

यभार चित्ते रमणीरसानरः

ककारकं तारकधारके उरः ! ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे 'तारकधारके उरः !' तारकाः-संसाराब्धि-  
पारणाः तान् धारयति इति तारकधारकस्तस्मिन् तारकधारके-

साधुजने उरः—मुख्यः, “उरो वक्षमि मुख्ये स्वात्” [अने. सं. कां. २ श्लो. ५००] इत्युक्तेः, हे साधुजनोत्तम ! ‘रमणीरमानरः’ रमण्यः—स्त्रियस्तामु रसः—रागस्तं न नरति—ने नयति योसौ रमणीरमानरः प्रस्तावात् साधुजनः ‘चित्ते’ हृदि ‘वभार’ धृतवान् । कं ? ‘विदारहर्तारं’ विदार्यन्ते नरा अस्मिन् न विदारः—युद्धं, तस्य हर्ता—हारको यः स विदारहर्ता तं विदारहर्तारं—श्रीअरनाथजिनम् । किम्भूतं विदारहर्तारं ? ‘अकारशाङ्करं’ न विद्यते कारः—प्रस्तावान् संसारकारागारं येषां ते अकाराः—मामान्यजिनास्तेषु मध्ये विशिष्टत्वात् शाङ्कर इव—वृषभ इव अकारशाङ्करस्तम् । पुनः किम्भूतं विदारहर्तारं ? ‘विहारकर्तारं’ विहारः—श्रीला निरुपमसंयमश्रीविलसनरूपा, “विहारस्तु जिनालये, लीलायां” [अने. सं. का. ३ श्लो. १२०३] इति हेमाचार्याः, तस्य कर्ता विहारकर्ता, तम् । पुनः किम्भूतं विदारहर्तारं ? अशारभास्वरं “धारण् दीर्घत्ये” अत्यन्तः, न गारोऽगारः—अदीर्घत्यं, तेन भास्वरः—मनोजो यः स तथा तम् । पुनः किम्भूतं विदारहर्तारं ? ‘ककारकं’ सुखविधायकम् ॥ २२ ॥

तनुरवसरवित्तेरकसेरस्तदार !,

प्रसुरति मुरविष्टेरंहतेरभ्रतेर ।

प्रवरभूदररे ! भारत्यमेरस्यवेर !

नवरजतरणेरेरङ्कुकारण्डजेर ॥२३॥

मात्तिनीच्छन्दः ।

व्याख्या—‘अररे !’ मन्त्रोधनार्थमव्ययम् । हे ‘प्रवरभूत् !’ ‘प्रवरं मन्ततौ [गोत्रे श्रेष्ठे च]’ [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७०]

इति हेमानेकार्योक्तेः प्रवरं—मन्तति पुत्रपौत्रादिकां—विभर्ति—  
 पुष्पाति योऽमी प्रवरभृत्, तस्य सम्बोधनं हे प्रवरभृत्!—हे  
 मित्र! 'तनु.' शरीरं 'प्रसुरति' प्रशोभते । कस्य? 'अवसरवित्तेः'  
 "अवसरो यत्मरे क्षणे" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६०६] इति  
 वचनात्, अवसर—अतीतानागतवर्तमानकाललक्षणस्तस्य "वि-  
 त्तिस्तु सम्भवे । ज्ञाने [लाभे विचारे च]" [अने. सं. का.  
 ३ श्लो. २०६] इति वचनाद्, वित्तिः— ज्ञानं यस्य यस्माद्वा स  
 अवसरवित्तिस्तस्य अवसरवित्तेः— श्रीअरनाथजिनस्य । किम्भू-  
 तस्य अवसरवित्तेः? 'अकंसेः' "अकं स्तुती" अकर्षते—स्तूयते  
 जनैरिति अकं, सह इना—इन्द्रेण वत्तंते यः स सेः—सेन्द्रः,  
 "इः कामः स्याणुरिन्द्रः" [सो. ए. ४] इति वचनात्, अकंश्चासौ  
 शेष अकंसेस्तस्य । किम्भूत हे प्रवरभृत्!?' अस्तदार!' अस्ताः  
 दाराः— परकलत्राणि येनासौ अस्तदारस्तस्यामन्यणम् । पुनः  
 किम्भूतस्य अवसरवित्तेः? 'मुरविष्टेः' "मुर वेष्टने" इति धातोः  
 अचि मुरन्ति—आत्मानं आच्छादयन्ति पापैरिति मुराणि—कर्माणि  
 तेषां विष्टिः— प्रेषणं मुञ्चनं यस्मात् स तथा तस्य, "विष्टिः  
 कर्मकरे मूल्ये, भद्रायां प्रेषणेऽपि च ।" [अने. सं. का. २ श्लो.  
 ११४] इति वचनप्रामाण्यात् । पुनः किम्भूतस्य अवसरवित्तेः?  
 'अंहतेः अभ्रते' "अंहतिस्त्वागरोगयोः", [अने. सं. का. ३ श्लो.  
 ८४०] इत्युक्तत्वान्, अंहते.—रोगस्य, जातावेकवचनं, "अभ्र गतो"  
 गत्यर्थानां प्राप्पययंतवान् "इकिस्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे ५।३।  
 १३८] इति तिवि अभ्रतिः— प्राप्तिस्तस्य अभ्रतेः, 'अ'न, अकारो  
 निषेधार्थः, रोगानां नागवक्ष्येत्यर्थः । पुनः किम्भूतस्य अवसर-



वित्तेः? 'भारत्यमेः' भारत्याः—वाग्देव्या अमिः—भजनं सेवनं यस्मिन् न तथा तस्य, "अम् गतो भजने शब्दे" इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्तेः, "इकिश्चिन्" [सि. हे. ५।३।१३८] इति सूत्रेण इप्रत्यये सिद्धिः । पुनः किम्भूत हे प्रवरभृत्!?' 'अस्यवेर!' भजनीयंगरीर ! । किम्भूता तनुः? 'नवरजतरणेः' "रण गतो" रणयति—सरसि जन्म प्राप्नोति यत्तत् रणं—पद्यं नद्यं—नूतनं यद् रजनं—स्वर्णं तस्य रणं नवरजतरण—नवीनस्वर्णं—कमलं, तदिव एति—शोभते या सा तथा, स्वर्णवर्णंगीरीत्यर्थः, "इन् (?इण्) कान्तो" किवन्तः, यदुक्तं श्रीहेमसूरिपादैः अभिधानकोषे—

“सुवर्णं पुनः ।

स्वर्णं हेम हिरण्यहाटकवमून्यष्टापदं काञ्चनं,

कल्प्राणं कनकं महारजतरंगाङ्गेयस्वमीष्यपि ॥

कलयीतलौडोत्तमवह्निवीजान्यपि गरुडं गैरिकजातरूपे ।

तपनीयनामीकरचन्द्रभर्मा—जुननिष्ककातंस्वरकर्बुराणि ॥

जाम्बूनदं शातकुम्भं, रजतं भूरि भूतमम् ।”

[का.४. श्लो. १०६-११]

पुनः किम्भूतस्य अवगारवित्तेः? 'एः' "एवग् (?इण्क्) गतो"

गत्यर्थानां जानायंत्वाद् विचि एति—सर्वजनमनोगतं जानाति

य. न ए, तस्य एः । पुनः किम्भूतस्य अवगारवित्तेः?

['अद्भुत्कारण्डजेर'] "अकि गत्यां" अद्भुतं अद्भुः—जानं स एव

कारण्डः—अमिस्तेन जगतीति विचि, अद्भुत्कारण्डजेस्तस्य,

अकारः पादपूर्त्ता, "कारण्डो मयुकोशेऽपि" [अने. सं. का.

३ श्लो. ७७५] इति वचनान् ॥२३॥

पूज्यैरघोरैरमदैर ! जेतरं,  
 नेतारमायोरनयैरपांसुरम् ।  
 धत्तारिमंहैरगसो रयं त्वरं,  
 पातारमस्तेरकलेरमुष्करम् ॥२४॥

व्याख्या—‘अ!’ इति सम्बोधने, भो जनाः! इति पद-  
 मध्याहार्यम्, प्रणमतेत्यपि शेषः । कं? ‘जैतरं’ “जि अभिभवे”  
 जयतीति विचि जे -जेता प्रकृष्टो जेः जैतरस्तं जैतरं-श्रीअरनाथ-  
 जिन “कित्याद्येऽव्ययादसत्त्वे तयोरन्तस्याम्” [सि. हे. ७।३।८]  
 इत्यनेन सूत्रेण तरप् । किम्भूतं जैतरं? ‘पूज्यैः’ पूजाहैः-साधुभिरि-  
 त्यर्थोपलक्षितमित्यर्थः । किम्भूतैः पूज्यैः? ‘अघोरैः’ अभयङ्करैः ।  
 पुनः किम्भूतैः पूज्यैः? ‘अमदैः’ निरहङ्कारैः । पुनः किम्भूतैः पूज्यैः?  
 ‘अनयैः’ “अन प्राणने” अनन्तीत्यचि अनाः-प्राणिनस्तेपां. या-  
 लक्ष्मीर्येभ्यस्ते अनयास्तैः । पुनः किम्भूतं जैतरं? ‘आयोः’ जीवनस्य  
 ‘नेतारं’ दातारमित्यर्थः, दयापालकत्वात् । “इष्कू गती” ए[ती]  
 त्याधु. “कृवापाजिस्वदि [साध्यशोदृस्नासनिजानिरहीणभ्य उण]”  
 [मि.हे उ.सू. १] इत्यनेन उणप्रत्यये सिद्धम् । पुनः किम्भूतं जैतरं?  
 ‘अपामुरं’ पांसू<sup>१</sup>-रेणुस्तत्प्रायत्वात् पांसव.-शठास्ते, विद्यन्ते यस्य  
 सः पांसुरः, “मध्वादिभ्यो र.” [सि. हे. ७।२।२६] इति रः, न  
 पांसुरोऽपांसुरस्तम् । पुनः किम्भूतं जैतरं? ‘धत्तारं’ धारकम् ।  
 कस्य? ‘अंहैः’ भागः “अहिक् भासि” “इकिदितव्०” [सि.  
 हे. १।३।१३८] इति इप्रत्ययः । पुनः किम्भूतं जैतरं? ‘रयं’

१.—“पुलि-पुल्यो पाणु-पागू, रंजो ना सान्तपण् रजः” इति  
 वाचस्पत्याकरः वा. ४ श्लो. ३३

“रलयोः सावर्ण्यम्” इत्युक्तः ‘लपं’ “लपञ् स्पृहि” लपति-  
 स्पृहतीति किपि लङ्(?ट्) तं लपं—वाञ्छकम्, कस्य ? ‘अगसः’  
 शाघतक्षेमस्य, “अज क्षेपणे बञ्ज्यजियुजिभृजेनं च” [सि. हे.  
 उ. सू. ६६६] इत्यनेन औपादिकमूत्रेण अम्प्रत्ययो गकारश्चान्ता-  
 देशो भवतीति निष्पन्नं अगः—अममिति । पुनः किम्भूतं जेतरं ?  
 ‘त्वरं’ “त्वर स्यदि” अचि त्वरयति धर्मार्थं जनानिति त्वर-  
 स्तम् । पुनः किम्भूतं जेतरं ? ‘पातारं’ पाण्डकम्, कस्य ?  
 ‘अस्तेः’ अस्तः—क्षितः इः—कामो येन न अस्तेः, तस्य अस्नेः—  
 माघोः । किम्भूतस्य अस्तेः ? ‘अकलेः’ कलहरहितस्य । पुनः  
 किम्भूतं जेतरं ? ‘अमुष्कर’ मुष्काः—अण्डका विद्यन्ते येषां ते  
 मुष्कराः—पशवः, “मघ्वादिभ्यो रः” [मि. हे. ७।२।२६] इति  
 रः, न विद्यन्ते मुष्कराः यस्यासौ तथा तं, वृनन्नतत्वान् ॥२४॥

अवरहसरयाङ्गारव्यवारण्टरोर-

वृपरवणरसालीरम्यलेरङ्कुडूरम् ।

गुहरवलिरघृत्योरङ्गनो रश्मिदोर-

गिरिरशिषिरवृद्धि रक्षतात् रच्यगूरः ॥२५॥

व्याख्या—‘रच्यगूरः’ “गूर उद्यमे” अलन्तः, रच्यः—  
 रचनीयो गूरः—उद्यमो धर्मार्थं यन्वानी रच्यगूरः—श्रीवर-  
 नायगिनः ‘रक्षतात्’ पातु । ‘रक्षतात्’ अग्रे ‘रच्यगूरः’ इत्यत्र  
 “न नग्विः” [मि. हे. १।३।१२] इत्यनेन सूत्रेण मन्व्यकरणम-  
 दुष्टम् । कं ? ‘अशिषिरवृद्धि’ न शिषिरा—न स्रथा वृद्धिर्यस्यासौ  
 अशिषिरवृद्धिस्तमित्यन्वयः । किम्भूतो रच्यगूरः ? ‘अवरह-  
 सरयाङ्गारव्यवारण्टरोरवृपरवणरसालीः’ अव-हीनं एः—

अप्रकाश्यं यस्मात् सोऽवरहसः, यद्वा अव-हीनो रहसा यः सः  
 अवरहस, "तप्तान्ववाद्रहसः" [सि.हे. ७।३।८१] इति सूत्रेण समा-  
 नान्त अप्रत्ययः, अवरहसाः-साधवस्त एव रथाङ्गाः-चक्रवाका-  
 स्तेषा आह्लादकत्वेन रविरिव-भानुरिव योसौ अवरहसरथा-  
 ङ्गारविः, "वरण्डो यदनामये" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७८१]  
 इति वचनाद्, वरण्ड एव वारण्ड, स्वार्थे अण्प्रत्ययः, न विद्यते  
 वारण्डः-वदनामयो नस्यानी अचारण्डः रोरः-दरिद्रः निर्घ-  
 नत्वात्, यद्वा न वारण्डो अवारण्डः, नञ्प्रवृत्तस्य कुत्साधत्वाद्  
 अवारण्डः-कुत्सितवदनामयस्तेन रोरः-दरिद्रो यः स अवारण्ड-  
 रोरः, वृषं-पुष्पं रौरीत्येवंशीलो वृषरवणः-धर्मवक्ता, "रसाला  
 दूर्वाविदार्यो जिह्वामाजितयोरपि ।" [अने. सं. का. -३ श्लो.  
 १२८०] इति वचनाद्, रसालया-जिह्वया अवति-दीप्यति  
 जिह्वाया अत्यन्तरकतत्वेन तनुत्वेन च यः स रसालीः, चतुर्णां  
 कर्मधारये अवरहसरथाङ्गारव्यवारण्डरोरवृषरवणरसालीः ।  
 पुनः किम्भूतो रच्यगूरः ? 'अम्यले.' "अम गतो भजने" अम-  
 ज्ञानं विद्यते येषां ते अमिन.-शण्डिताम्येषां अलः-भूषा  
 येभ्यस्ते अम्यलाः, "अल वारणपर्याप्तिभूषासु" इति वचनात्,  
 अलन्तः, अम्यलाः-सुरगुरुमानमातङ्गमर्दनमारङ्गनाव (? नाय)  
 निभा गतनिभा (?) यादिनः पीडनसत्तसहृषाकास्तंरिति  
 दीप्यते योगी तथा । कथं भवति ? 'अद्भूदूर' "अद्भू  
 भूषा रूपकलदमगु ॥ चित्राजीनाटकाद्यं, स्यान्ने श्रोत्रेऽग्नि-  
 कागमोः ।" [अने. सं. का. २. श्लो. १७, १८] अद्भूत्-  
 भागमो दूरं यत्तद् अद्भूदूरं, एवं यथा स्यात्तथा । पुनः  
 किम्भूतो रच्यगूरः ? 'गुरुः' गरिष्ठः गुणैरिति गम्यते । पुनः

किम्भूतो रच्यगूरः? 'अङ्गनः' "अगि गतां" गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थ-  
त्वाद् अङ्गयति-प्रापयति अङ्गनः, वर्तयन्तद् । कयोः? 'अव-  
लिरघृतयोः' न बलिराः अवलिराः-अवक्रदृष्टयः, घृतिञ्च-  
मुखं घृतिञ्च-मन्त्रोपः "स्यादावमङ्गयेयः" (मि.हं.३।१।११६)  
इति मूत्रेणैकगोपे घृती, अवलिराणां-अवक्रदृष्टीणां घृती अव-  
लिरघृती तयोः, "घृतिर्योगविशेषे स्याद् वारगार्धययोः सुन्ने ।  
मन्त्रोपाध्वरयोश्चापि" [अने. सं. कां. २. श्लो. १८६] इत्युक्तेः,  
अमुना विशेषणेन शीलव्रतधारिणां पुंसां मुखमन्त्रोपयोः प्रापक  
इत्यर्थः । पुनः किम्भूतो रच्यगूरः? 'रश्मिदोः' "दु उपतापे"  
विच्प्रत्ययान्तः, रश्मिभिः घृन् दुनोति-उपतापयति योज्यां  
तथा । पुनः किम्भूती रच्यगूरः? 'अगिरिः' "गिरिः, पूज्येर्दक्षिणजि  
[कन्दुकं । शंले गिरियकं? गीर्णावपि" अने. सं. कां. २. श्लो.  
४६६] इति वचनाद्-न विद्यते गिरिः-अक्षिण् यस्यातो  
तथा, प्रधानात् इत्यर्थः ॥ २५ ॥

कारोरनीतेरघृतेरदोपर!

दारोरवाचो रजनोरमोहरम् ।

सदोरनत्तेरमृतेरनम्बरः,

सधोररिष्टेरमृतेरककरः ॥२६॥

व्याख्या—हे 'अदोपर!' न दोषा अदोषाः तेषां  
राः-दानं यस्यामो अदोपरः तत्सम्बोधनं हे अदोपर!-हे

२. "गिरियकः-गिरिगुः काष्ठादिमयं शैलतकम्" इति टीकाया  
उद्धरणं स्थानं ।

श्रीअरनायजिन ! त्वं 'अवाच.' अत्यर्थं अव्रवीः । किं तत् ? 'अं' परब्रह्म, "अं मान्तो ब्रह्मसंवादे, परब्रह्म प्रवाचकः ।" [वि.ए. १.६] इति वचनप्रामाण्यात् । कस्य ? 'कारोः' इन्द्रस्य, जातावेकवचनं, "दुकृङ्ग् करणे कृङ्ग् हिंसायां वा" निरनुबन्धग्रहणे सामान्य-ग्रहणान् करोति करति कृणोति वा "कृवापाजि [स्वदिसाध्यशौद्ध-स्नामनिजानिरहीणभ्य उण्" सि. हे. उ. सू १] इति सूत्रेण उण्प्रत्यये "कारुः कारी नापितादिः इन्द्रश्च" । किम्भूतस्य कारोः ? 'अनीतेः' "णीग् प्रापणे" क्तिप्रत्यये नीतिः—प्रापणं, न विद्यते नीति—प्रापणं यस्यासौ तथा तस्य । कस्य ? 'अघृतेः' अमुखस्य । पुनः किम्भूतस्य कारोः ? 'दारोः' ददाति दयते यच्छति दति दाति दापयति वा 'इत्येवंशीलो । दाह-स्तस्य, "दाट्घेसिग्दसदो रुः" [सि. हे. ५।२।३६] इति र-प्रत्यये सिद्धिः । किम्भूतस्त्व ? रजनीं—निशां कान्तात्वेन एति—प्राप्नोति योऽसां रजनी.—चन्द्रस्तद्वत् शीतलत्वाद् रजनीरिव रजनीयं न तथा । पुनः किम्भूतस्त्व ? 'अभीरुः' न विद्यन्ते भीरवः—स्त्रियो यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'सद्दोः' सन्तो गोभनो अचिनो वा शोरो—[वाम]दक्षिणभुजौ यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतस्य कारोः ? 'अनर्त्तेः' न विद्यते अर्तिः—पीडा यस्यासौ अनर्त्तस्त्वस्य । पुनः किम्भूतस्य कारोः ? 'अमृतेः' अमरणस्य । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अनम्बरः' न विद्यते अम्बरं—यानो यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतस्य कारोः ? 'अभृतेः' न विद्यते भृति.—गोपणं यस्यासौ तथा तस्य । कस्य ? 'अरिष्टेः' अशुभस्य । कस्य ? 'अप्रोः' गती—विद्यमाना नुः—स्तुतिर्जननेषु

यस्य स सन्तुः—भवतस्तस्य । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अककंरः'  
अककंरः इत्यर्थः ॥ २६ ॥

सूमरमुदिरसेरोर्यधेरत्खिखीरं,

ननर निगरणाश्रेरच्छपेरम्बंगारम् ।

सुमरठिकरदीतेरस्तजारण्डमार-

सधुरनविरलक्षे रथ्यदेरस्त्रपेर ॥ २७ ॥

व्याख्या—अहं 'ननर' प्राप्तवान्, "नृशू नीती" परोक्षाया  
उत्तमपुरुषरूपम् । किं तत् ? 'अत्खिखीरं' "अत सातत्यगमने"  
किञ्चन्तः, गंत्यर्थात् ज्ञानार्थत्वाद् 'अद्-ज्ञानं तस्य खिखीरा-  
वहुत्वं यस्मात् मे तथा तं अत्खिखीरं-जिनप्रणीतधर्मम्,  
"खिखीरा वद् बहुत्वे च" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११५०]  
इत्युच्यते । कस्मात् ? 'सूमरमुदिरसेरोः' सरन्ति-मैयुननिमित्तं  
वेद्यादिषु गच्छन्ति ये ते सूमराः, "सृधस्यदो मरक्" [सि. हे.  
५।२।७३] इत्यनेन मरक्, अत एव "मुदिरः कामुके मेघे"  
[अने. सं. कां. ३. श्लो. ११६६] इति वचनप्रांमाण्याद् मुदिराः-  
कामुकाः, "पिगूट् वन्धे" सिनोति-व्रध्नातीत्येवंशीलो यः स  
सूमरमुदिरसेर, "दाट्धेसिगदमदो रुः" [सि. हे. ५।२।३६]  
इति रुः, तस्य [तस्मात्] सूमरमुदिरसेरोः, श्रीअरनाथजिना-  
दित्यर्थः । किम्भूतं अत्खिखीरं ? 'अम्बंगारं' "अम्ब च गती" (?)  
अम्बपते-ज्ञायते योग्यायोग्यमार्गमेभ्यो लोकैरिति अम्ब्या-जिन-  
प्रणीतकादशाद्भानि, तेषां गारः-विज्ञायो यस्मात् स तथा तम्,

“गृक्ड विज्ञाये” इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्तेः । किम्भूतस्य  
 सूमरमुदिरसेरो ? ‘अर्थधे.’ अर्थ—ज्ञानदर्शनचारित्र्यरूपं घनं  
 धियति योऽसौ अर्थधेस्तस्य, “धित् धृती” विच्प्रत्ययान्तः । पुनः  
 किम्भूतस्य सूमरमुदिरसेरो ? ‘निगरणाश्चेः’ “गृत् निगरणे”  
 नितरा गरणं—अदनं येषां ते निगरणाः—प्राणिनः, ते आ-  
 समन्तात् श्रयन्ति—सेवन्ति यमिति निगरणाश्चेस्तस्य, प्राणिभिः  
 सेवितस्येत्यर्थः, “श्रिग् सेवने” विच्प्रत्ययान्तः । पुनः किम्भू-  
 तस्य सूमरमुदिरसेरो ? ‘अच्छपे.’ “पित् गती” ज्ञानार्थः  
 विजन्तः, अच्छः—निर्मलः पेः—ज्ञानं केवलज्ञानं यस्यासौ तथा  
 तस्य । पुनः किम्भूतस्य सूमरमुदिरसेरो ? ‘सुमरठिकरटीतेः’  
 मरठाः—प्राणाः, यदुक्तमुणादिवृत्ती—“मरठः दध्यतिद्रवीभूतं  
 कृमिजातिः कण्ठ प्राणश्च ।” [सि. हे. उ. सू. १६७] इति, ते  
 विद्यन्ते येषां ते मरठिनः, मुष्टु मरठिनः सुमरठिनः, तेषां मध्ये  
 करटिन इव—गजा इव ये ते सुमरठिकरटिनः, तेषां इति—  
 शोभा यस्मात् स तथा तस्य, “इण् कान्तिगतिव्याप्तिक्षेप-  
 प्रजनस्वादाने” इति वचनात् । पुनः किम्भूतस्य सूमरमुदिर-  
 सेरो ? ‘अस्तजारण्डमारमधुरनविरलक्षे.’ जरण्डः—अतीतव-  
 यस्कः, भावप्रधाननिर्देशाद् जरण्डशब्देन वृद्धत्वम्, जरण्ड एव  
 जारण्डः, स्वार्थे अण्प्रत्ययः, अस्तः—क्षिप्तः जारण्डः—वृद्धत्व-  
 मेव येभ्यस्ते अस्तजारण्डाः—युवानः, मार.—यन्दर्पस्तद्वत् सुन्द-  
 ररूपत्वाद् मधुरा.—गर्वजनप्रियाः मारमधुराः, अस्तजारण्डाश्च  
 ते मारमधुराश्च अस्तजारण्डमारमधुराः, ते च ते नाथ—नरा  
 अस्तजारण्डमारमधुराः—कामिपुमानः, “नो नरे” [७६] इति  
 विघ्नान्भुवचनात्, तेभ्यो धिराः—असंहता ये ते अस्तजारण्ड-



मारमधुरनविरलाः, तैः “लि क्षयैश्वर्ययोः” विचि क्षयति — ईष्टे  
यः सः अस्तजारण्डमारमधुरनविरलक्षेस्तस्य । पुनः किम्भूतस्य  
मृमरमुदिरसेरोः ? ‘रथ्यदेः’ “रथ्यो रथांश्चे रथवोढरि” [अने.  
सं. कां. २ श्लो. ३८६] इति वचनाद् रथ्याः—रथवोढारः, प्रस्ता-  
वाद् धर्मरथवोढारः, तान् “दंड पालने” विचि दयते—पालयति  
योऽसौ रथ्यदेस्तस्य । पुनः किम्भूतस्य मृमरमुदिरसेरोः ?  
‘अस्त्रपेः अ’ “अस्त्रं चापे प्रहरणे” [अने. सं. का. २. श्लो. ४००]  
इति वचनात् “पित् गतौ” “ये गत्यर्थास्ते प्राप्स्यर्थाः” इति  
वचनाद् अस्त्राणां—चापानां पेः—प्राप्तिर्यस्य सोऽस्त्रपेस्तस्य  
अस्त्रपेः, एवंविधः ‘अ’ न, अकारो निषेधार्थः ॥२७॥

लोकैरशोभि रपनैरपनैरखिह्विरः,

पूतैरमातिरतरेरकदैरघस्मरः ।

सुश्रीरनेमिरनतैरतुघेरतोमर-

प्रष्ठैरदुःखरजकैरवनैरमत्तरः ॥२८॥

मृदङ्गकच्छन्दः

व्याख्या—‘अखिह्विरः’ “खिह्विरस्तु शिवाभेदे, खट्वाङ्गे  
वारिवाल्के” [अने. सं. कां. ३ श्लो. ११४६] इति वचनाद् न  
विद्यते खिह्विरः—वालकं सुगन्धप्रयं यस्य स अखिह्विरः—श्रीअर-  
नायतीर्यकृत् ‘लोकैः’ श्रावकजनैः साधुजनैर्वा ‘अशोभि’  
शोभितः । किम्भूतैर्लोकैः ? ‘रपनैः’ “रप भाषणे” कर्त्तव्येनटि  
रपन्ति—गुमवार्त्ता भाषन्ते ये ते रपनास्तैः । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ?  
‘अपनैः’ “नो वृद्धौ ज्ञानवन्धयोः” [२७] इति सुधाकलनावचनाद्

अकरणिरररस्यौरस्तु कारण्डकौः ! रो,

बधिरविखुरणाध्रोरश्च वारङ्गतोर ।

रुचिरखदिरदीप्तेरर्घ्यखोरत्तिहार !,

स्वदरबृदरपल्लूरस्य वैरङ्ग ! पूर ! ॥२६॥

व्याख्या—‘हे कारण्डक !’ कारण्डक एव कारण्डकः, स्वार्थे  
अण्प्रत्ययेः, हे कारण्डक ! । कस्य ? ‘रः’ “ऋग्व्यः पावके  
सूर्ये धर्मे” [वि. ए. ११] इति वचनप्रामाण्याद् वा-धर्मः, “ऋ  
दीर्घो देवमाता स्याद्भवस्तेन ते सुराः ॥ स्त्रीलिङ्गोऽयं धने  
[यत्नी, वासवे वरुणालये । वि. ए. १२-१३] इति वचनाद् आ-  
धर्मः स एव ऋ ऋः, तस्य रः-धर्मधनस्थ, अमुना विशेष-  
णेन धर्मधनालय इत्यर्थः । ऋ अग्रे ऋ इति सन्धौ “समानानां  
तेन दीर्घः” [मि. हे. १।२।१] इति दीर्घे ऋ, तदनु पष्ठ्येक-  
वचने ‘रः’ इति तिप्पत्तिः । ‘हे रः कारण्डक !’ हे धर्मधनालय !  
हे मित्र ! ‘अररन्ध्र’ भ्रमणस्य प्रस्तावान् संनारभ्रमणस्य, यदुक्त-  
मुणाशौ-“अरर. कणाटः वुधः भ्रमणं” [मि. हे. उ. सू. ३=७]  
इति, ‘अकरणि.’ अविद्यानमेव ‘अस्तु’ भवतु, जन्मस्येति शेषः ।  
अकरणिरित्यत्र “नजोर्जनिः शापे” [मि. हे. ५।३।११७] इति  
मूत्रेणानिप्रत्यये न कारणं अकरणिरिति, न विद्यानमेवेत्यर्थः ।  
कस्मान् ? ‘ओः’ “उंट् गव्दे” विन्नि अवति-दानशील्यतपोभाव-  
नाह्वरं धर्मं परिणति शब्दयति योज्यो ओः, तस्माद् ओः-श्रीअर-  
नावतिनान् । किन्भूत हे रः कारण्डक ! ? ‘ओः !’ हे प्रीणक ! ।  
किन्भूताद् ओः ? ‘बधिरविखुरणाध्रो.’ बधिरः-ध्रुनिबिकलाः,

अप-गनो नः-वन्धोऽकरणाह्वस्तुव्रातजो येभ्यस्तेऽपेनास्तैः ।  
 पुनः किम्भूतैर्लोकैः ? 'पूतैः' पवित्रैः । किम्भूतः अखिह्विरः ?  
 'अतरे अमातिः' "अत सातत्यगमने" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद्  
 अतस्य-ज्ञानस्य "रित् गतौ" विजन्तः रेः-प्रापणं यस्मात् स  
 अतरेः, तस्य अतरेः-धर्मस्य 'अमातिः' न विद्यते नातिः-मानं  
 यस्मात् स तथा । पुनः किम्भूतोऽखिह्विरः ? 'अकदै' "देव  
 शोधने" क्विन्त, अकस्य-पापस्य दै-शोधनं यस्मात् स तथा ।  
 पुनः किम्भूतोऽखिह्विरः ? 'अघस्मर' अनदनशीलः । पुनः  
 किम्भूतोऽखिह्विरः ? 'सुथीः' "श्रिग् सेवायां" सुष्ठु श्रयति  
 पुण्यकर्माणमित्येवंशीलः सुथीः, "दिद्युद्दृ" [मि. हे. ५।  
 २।८३] इति सूत्रेण शीलादौ सत्यर्थे कियो-निपातः । पुनः  
 किम्भूतोऽखिह्विरः ? 'अनेमि' नमतीत्येवंशीलो नेमिः, न नेमि.  
 अनेमि, तीर्थकृत्वात्, "नम्रिचक्रिदधिर्जज्ञिर्नेमिः" [सि. हे. ५।२।  
 ३६] इत्यनेन सूत्रेण शीलादौ सदर्थे वृथुक्त्वेमान् इघन्तो निपा-  
 त्यते इति नेमिगद्दनिष्पत्तिः । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ? 'अनतैः'  
 अनग्नीभूतैः परतीर्थेषु । पुनः किम्भूतोऽखिह्विरः ? 'अगुधेः'  
 अमून्-प्राणान् घियति विचि अगुधेः, "धित् धृती" । पुनः  
 किम्भूतैर्लोकैः ? 'अतोमरप्रष्टै' न विद्यन्ते तोमराः-यस्त्राणि  
 येषां ते अतोमरास्तेषां मध्ये प्रष्टाः-विशिष्टा अतोमरप्रष्टा-  
 न्तैः । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ? 'अदुःगरजज्ञैः' दुःखं नास्ति येभ्य-  
 भ्यो अदुःखाम्भान् "रञ्जो रागे" रञ्जतीति अकि अदुःगर-  
 जज्ञान्तैः, गुणकरजनरञ्जज्ञैरित्यर्थः । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ?  
 'अवनैः' अवग्नि-वृद्धी वृद्धयग्नि ये तं अवनटि अवनाम्नैः ।  
 पुनः किम्भूतोऽखिह्विरः ? 'अमत्तरः' मन्तररहितः ॥२८॥

अकरणिरररस्योरस्तु कारण्डकौः ! रो,

वधिरविखुरणाध्रोरश्च वारङ्गतोर ।

रुचिरखदिरदीप्तेरर्घ्यखोरत्तिहार !,

स्वदरवृदरपल्लूरस्य वरङ्ग ! पूर ! ॥२६॥

व्याख्या—‘हे कारण्डक !’ कारण्डक एव कारण्डकः, स्त्रायै अण्प्रत्ययः, हे कारण्डक ! । कस्य ? ‘रः’ “ऋशब्दः पावके सूर्ये धर्मो” [वि. ए. ११] इति वचनप्रामाण्याद् आ-धर्मः, “ऋ दीर्घो देवमाता स्याद्भवस्तेन ते मुयः ॥ स्त्रीलिङ्गोऽयं घने [बह्वी, वासवे चण्डाल्ये । वि. ए. १२-१३] इति वचनाद् आ-धर्मः स एव ऋ ऋः, तस्य रः-धर्मघनस्य, अमुता विशेषणेन धर्मघनाद्य इत्यर्थः । ऋ अग्रे ऋ इति मन्वो “समानानां तेन दीर्घः” [मि. हे. १।२।१] इति दीर्घे ऋ, तदनु पृष्ठचेक-वचने ‘रः’ इति निष्पत्तिः । ‘हे रः कारण्डक !’ हे धर्मघनालय ! हे मित्र ! ‘अरन्ध्र’ भ्रमणस्य प्रन्नावान् मंनारभ्रमणस्य, यदुक्त-मुणादौ—“अररः कपाटः बुधः भ्रमणं” [मि. हे. उ. सू. ३८७] इति, ‘अकरणिः’ अविधानमेव ‘अन्तु’ भवतु, जन्मस्येति शेषः । अकरणिरित्यत्र “नजोऽग्निः नापे” [मि. हे. ५।३।११७] इति सूत्रेणानिप्रत्यये न करणं अकरणिरिति, न विधानमेवेत्यर्थः । कन्नात् ? ‘ओः’ “उंङ् शब्दे” धिञि अवति-दानशीलतपोनाय-नास्तं धर्मं परिपदि शब्दयति योज्जी ओः, तस्माद् ओः-श्रीअर-नावजितान् । किन्मून हे रः कारण्डक ! ? ‘ओः !’ हे प्रीणक ! । किन्मूनाद् ओः ? ‘वधिरविखुरणाध्रो’ वधिगः-धुनिविकल्पाः,

विशेषेण खुरणसः—लघुनासिकावन्तः पुमांसः, बधिराश्च विखुरणसश्च बधिरविखुरणसः, “ध्रु गतिस्थैर्ययोः” विचि ध्रौः, तेषां ध्रौः—स्थैर्यं यस्मात् स बधिरविखुरणाध्रौः, तस्माद् बधिरविखुरणाध्रौः, एवंविधो ‘अः’ न । पुनः किम्भूताद् ओः ? चकारः पादपूर्त्तो, ‘वारङ्गतो. अ’ “वारङ्गः काण्डखड्गयोः” [सि. हे. उ. सू. ६६] इति उणादिवृत्त्याम्, वारङ्गः—खड्गैः काण्डैर्वा तीति—हिनस्ति योऽसौ वारङ्गतोः तस्मात्, एवंविधः ‘अ’ न, “तुल्यवृत्ति-हिसापूर्त्तिषु” इति वचनाद् विजन्तः । पुनः किम्भूताद् ओः ? ‘रुचिरखदिरदीप्तेः’ “खदिरो दन्तधावनचन्द्रयोः” [अने. सं. कां. ३. श्लो. ११४६] इति हेमानेकार्योक्तेः रुचिरः—मनोहरो यः खदिरः—चन्द्रः तद्वद् दीप्ति—कायकान्तिर्यस्यासौ तस्मात् । पुनः किम्भूताद् ओः ? ‘अ-र्घ्यं-खोः’ “खुड् ध्वनौ” विजन्तः, अर्घ्याः—पूजार्हास्ते खुवन्ति—ध्वनयन्ति गीतादिभिरिति यं स अर्घ्यं-खोस्तस्मान् । [पुन.] किम्भूत हे रः कारण्डक ! ? ‘अत्तिहार !’ पीडानागक ! । पुनः किम्भूत हे रः कारण्डक ! ? ‘वंः !’ “ओवं शोपे” क्विपि वायति—शोपयति योऽसौ वंः, तत्सम्बोधनं हे वंः !—हे शोपक !, कस्य ? ‘स्वदरवृदरपल्लूरस्य’ सु—अतिशयेन अदरवृदरावेव—मङ्ग्रामभयावेव पल्लूरं—मितं पयो—निर्मलपयः स्वदरवृदरपल्लूरं तस्य तथा । अदरवृदरशब्दो ओणादिको मङ्ग्रामभयवाचकौ, “पल्लूरं तु सितं पयः” [शेप. सं. श्लो. १६३] इति शेप., जग्यवाचकः । पुनः किम्भूत हे रः कारण्डक ! ? अङ्गेति कोमलाभन्त्रणे, ‘हे पूर !’ “पूर पूर्वो” अजन्तः, पूरयति अभीष्ट-मिति पूरः, तत्सम्बोधनं हे पूर !, पूरवेत्यर्थः ॥ २६ ॥

यक्ष्यैरचोकू रपठं रमठघरः,

सत्कारभूनीरनयेरगत्वरः ।

सभ्यैरधीशैरघनैरपक्मरः,

कष्टैरनन्तैरदशैरकच्छुरः ॥ ३० ॥

व्याख्या—‘सत्कारभूनीः !’ कारो-निश्चयः तत्र तेन वा भवतीति कारभूः-अग्रेसरः, सन्तश्च-साधवः कारभ्वश्च-अग्रेसराः सत्कारभ्वः, तेभ्योऽपि विशिष्टत्वेन अग्रेसरत्वं नयति-प्राप्नोति योऽसी तथा, तत्सम्बोधने हे सत्कारभूनीः !—श्रीअरनाथजिन ! त्वं “यक्ष पूजायां” यक्षे-पूजायां अर्हाः यक्ष्यास्तैर्यक्ष्यैः-साधुभिः ‘अचोकूः’ अत्ययं ज्ञानश्रीडामकार्पोः । किम्भूतयक्ष्यैः ? ‘रपठः’ विद्वद्भिः, यदुक्तमुणादी-“रपठः विद्वान् मण्डूकश्च” [मि. हे. उ. सू. १६७] । किम्भूतस्त्वं ? ‘रमठघरः’ रमठाः-श्रीडनशीला विद्यन्ते येषां ते रमठिनः-चक्रवर्तिनस्तेषां अरः-सेवार्थं प्रापणं यस्य स तथा, “ऋग् गत्यां” अलन्तः । यदुक्तमुणादिवृत्त्यां-“रमठः देशः कृमिजातिः श्रीडनशीलः म्लेच्छः देवश्च चिलातानाम्” [सि. हे. उ. सू. १६७] । पुनः किम्भूतस्त्वं ? ‘अनयेः’ अनयस्य-कुनयस्य ईः-क्षेपो यस्माद् यस्य वा स तथा, “इल् क्षेपे” क्विन्तः । पुनः किम्भूतस्त्वं ? ‘अगत्वरः’ अगमनशीलः, परदारादिष्विति गम्यते । पुनः किम्भूतयक्ष्यैः ? ‘सभ्यैः’ सभाहैः । पुनः किम्भूतयक्ष्यैः ? ‘अधीशैः’ स्वामिभिः, शिष्यादीनामिति गम्यते । पुनः किम्भूतयक्ष्यैः ? ‘अघनैः’ निर्घनैः, यतित्वात् । पुनः किम्भूतस्त्वं ? ‘अपक्मरः’ “क्मर कौटिल्ये” अलन्तः, अपगतः क्मरः-कौटिल्यं



रतीसा, आरक्ष'—रक्षको यः स रतीसारक्षः, "आरक्षो रक्षके"  
 [अने.सं.कां. ३ श्लो. १३३०] इति हेमानेकार्योक्तिः, "कारणं घातनं  
 हेतौ" [अने. सं. कां ३ श्लो ७६५] इति वचनात् कारणं—घातनं  
 विद्यते येषां ते कारणिनः—घातकाः, तेषां ईः—नाशो यस्मात् स  
 कारणीः, "इल्-क्षेपे" क्विबन्तः, "वीरा गम्भारिकारम्भाताम-  
 ल्यवेलवालुपु ।" [अने. सं. कां ३ श्लो. ४६३] इति वचनाद् न  
 विद्यन्ते वीराः—रम्भाप्रायत्वात् स्त्रियो यस्यासौ अवीरः, त्रयाणां  
 कर्मवारये रतीसारक्षकारण्यवीरः । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'विमरण-  
 परमात्मा', विगतं मरण—मृतिर्यस्मात् स विमरणः, परमक्षासौ  
 आत्मा च परमात्मा, विमरणक्षासौ परमात्मा च विमरणपर-  
 मात्मा । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'आरब्धनीरन्ध्रकोरघनरमसुरभिः'  
 "कुरुत् शब्दे" पञ्चतः, आरब्धः—आरब्धो नीरन्ध्रः—दृढः कोरः—  
 शब्दो व्याख्यानावसरे येन स आरब्धनीरन्ध्रकोरः, घनरसः—  
 कर्पूरस्तद्वत् सुरभिः—मुगन्धो यः स घनरमसुरभिः, आरब्ध-  
 नीरन्ध्रकोरश्चानौ घनरससुरभिश्च तथा । पुनः किम्भूतस्त्वं ?  
 'नेः' "नी प्रापण्णे" नयति गर्भं योऽग्नौ नेः—नेता विजन्तः । पुनः  
 किम्भूतस्त्वं ? 'अब्जदृग्गुरत्नानू.' अब्जदृग्नि—कमलनयनानि यानि  
 रत्नानि—स्वजातिश्रेष्ठाः, "रत्नं स्वजातिश्रेष्ठे स्यात्" [अने. सं.  
 कां. २ श्लो. २६१] इति हेमानेकार्योक्तिः, अब्जदृग्गुरत्न  
 म्नूयते योऽग्नौ तथा । 'अः' पादपूर्त्तां ॥३१॥

संसारदुस्तरसुनोरघितारकानुर-

दृढचरपातिरसितैरहसैररक्ष



सिद्धंरगायि रमतीरसितेरहोऽध्वरः,

ख्यातैरदातिर शतेरगतीरकूबरः ॥३२॥

व्याख्या—अध्वरशब्दस्तीर्थकरनामवाची जिनसहस्रनाम-  
मध्ये पठितोऽस्ति, 'अध्वर.' श्रीअरनाथजिनः 'सिद्धै.' प्रसिद्धैः  
श्रावकैः 'अगायि' प्राप्तः, "सिद्धो व्याड्यादिके देवयोनी  
निष्पन्नमुक्तयोः । नित्ये प्रसिद्धे" [अने सं. का. २ श्लो. २६७]  
इति हेमानेकार्योक्तेः । किम्भूतोऽध्वरः ? 'संसारदुस्तरमुनी-  
रधितारकानुः' संसारः—भवः स एव दुस्तरसुनीरधिः—शोभन-  
जलराशिस्तस्मान् तारयन्ति ये ते संसारदुस्तरमुनीरधितारकाः,  
तेषु आ—ममन्ताद् नुः—स्तवनं यस्य स तथा । किम्भूतः  
मिद्धैः ? 'अदूढघैः' दुष्टं ध्यायन्तीति "स्यादिभ्यः कः" [सि.  
हे. ५।३।८२] इति के दूढघा—दुर्जनाः, न दूढघा अदूढघास्तैः  
तथा, सज्जनैरित्यर्थः, अत्र हि पृषोदरादित्वाद् दुसो दूनावो घस्य  
ढत्वे दूढघ इति । पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'अपातिः' "पां पाने"  
पातिः—पानम्, न विद्यते पातिः—मदिरापानं यस्य स तथा । पुनः  
किम्भूतैः मिद्धैः ? 'अमितैः' दीप्तैः । पुनः किम्भूतैः मिद्धैः ?  
'अहमैः' "हसे हसने" अलन्तः, न विद्यते हनः—हसनं येषु ते  
अहमास्तैः । पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'अस्पंरः' न मन्नि स्पंरा—  
घूर्ताः यस्य स तथा, "स्पंरस्नस्वारे भिक्षापात्रे घूर्तं-कपालयोः"  
[अने. सं. का. ३ श्लो. ११४७] इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतोऽध्वरः ?  
'रमतीः' "रमु त्रीष्टे" "इतिस्तिव् स्वरूपायै" [मि. हे. ५।३।  
१३८] इति तिथि रमतिः—रमणं, प्रमत्तावाद् मुक्तिश्रिया गमं  
रमति—त्र्यहं एति—प्राप्नोति योऽमी तथा । पुनः किम्भूतो-

ऽध्वरः ? 'असितेः' न सिता अमिता-अवद्धा ई-लक्ष्मीर्यस्यासौ  
 तथा, अत्यन्तलक्ष्मीदानदायक इत्यर्थः, धर्मकार्यसाधधानत्वेन ।  
 पुनः किम्भूतैः सिद्धैः ? 'ख्यातैः' प्रसिद्धैः । 'अहो !' इत्याश्चर्ये ।  
 पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'अदातिः' "दाव्क् नूनो" कितप्रत्ययान्तः,  
 न विद्यते दातिः-लवन यस्य स तथा । अकारः पादपूरणार्थः ।  
 पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'शतेरगतोः' शतेरः-वायुस्तद्वद् गतियेषां  
 ते शतेरगतयः-साधवः तेषां ई-लक्ष्मीर्यस्मात् स तथा, शतेर-  
 गव्द औणादिको वायुवाचकः । पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'अकूवरः'  
 अकुब्जः, "कूवरः पुनः । कुब्जे [युगन्धरे रम्ये ।" अने. सं. का.  
 ३ श्लो. ११४३] इति वचनात् ॥३२॥

अविरतमर ! तुष्टोरस्कतोरहंदीरः,

प्रचुरय विरजं कारम्भभूरजंसोरः ।

यतिरकुचररासेरस्यवैरप्रजौर-

स्तिमिरखिदिरतम्यारत्विडा रक्षितारः ॥३३॥

व्याख्या—हे 'अर !' हे अरनाथजिन ! त्वं 'अविरतं'  
 निरन्तरं 'विरजं' विगतं रजः-पाणमलो यस्मात् म विरजः-  
 धर्मस्तं विरजं 'प्रचुरय' बहुलीकुरु । किम्भूतस्त्वं ? 'तुष्टोरस्क-  
 तोः' तुष्टं उरो यस्मात् म तुष्टोरस्कः, "दध्युर.सपिमंघूपान-  
 च्छालेः" [मि. हे. ७।३।१७२] इति सूत्रेण बहुव्रीहेः कच् समा-  
 मान्तः प्रत्ययो जातः, तुष्टोरस्कः-धनः, तं तौति-पिपति विचि  
 तुष्टोरस्कतोः, धनपूरक इत्यर्थः । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अहंदीरः'

विदाश्च-विदन्ति--जानन्तीत्यचि विद्वांसस्तैः अजर्जरदुर्वारकङ्क-  
रविदैः । पुनः किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमीः ? 'असंस्तरः'  
"संस्तरः प्रस्तरे मखे" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२१५] इत्युक्तेः  
न विद्यते संस्तरः-यज्ञः यस्य स तथा ॥३४॥

प्रभुरचतुरवित्तारक्षवैरङ्गिकारः,

शुभरथविरहक्षोऽरम्रशारण्यसौरः ।

अनरणिरिरिष्टेरङ्गरेऽरङ्गजूरः,

प्रदुरकृतिरराकाऽऽरक्षपूरम्यखोर ! ॥३५॥

व्याख्या—'अङ्गरे' ! इति सम्बोधनार्थमव्ययम् । हि

अम्यखोर ! "अम भजे" अमतीत्येवंशीलोऽमी-भजकः, न  
खोरः अखोरः-अखञ्जः, अमी चासी अखोरथ अम्यखोर-  
स्तदामन्त्रणं हे अम्यखोर !-हे मित्र !, 'पटुः' रोगविहीनः श्री-  
अरनाथजिनः, "पटुस्तीक्ष्ण-पटोलयोः । स्फुटे रोगविहीने च"  
[अने. सं. का. २ श्लो. १०८] इत्युक्तेः, 'अरिष्टेः' "अरिष्टं  
मृत्युगारेज्जत्रिह्वे तत्रे शुभे" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७५०] इति  
वचनप्रामाण्याद् अरिष्टस्य-शुभस्य ईः-क्षेपो यस्मात् स अरिष्टे-  
स्तस्य अरिष्टेः-पापस्य 'अनरणिः' न अरणं अनरणिः, "नओऽग्निः  
शापे" [सि. हे. ५।३।११७] इति अनिप्रत्ययः, अनरणिः-अत्राण-  
मेव विदधातु इति शेषः । किम्भूतः पटुः ? 'प्रभु.' स्वामी ।  
पुनः किम्भूतः पटुः ? 'अचतुरवित्तारक्षवैरङ्गिकारः' अविद्य-  
मानानि अदृश्यानि वा चत्वारि घातिकर्माणि येषां ते अचतुरा  
नञ्मुव्युपपञ्चतुरः" [सि. हे. ७।३।१३१ ।] इत्यनेन नञ्-  
प्रत्ययात् परस्य चतुरशब्दस्य बहुव्रीहेरपसमासान्तप्रत्यये अच-

वृन्दारकागरजिनोरसमोः—श्रीअरनाथजिनः गुह्यत्वेन देवत्वेन वा ।  
 किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमोः ? 'अकर्दुरः'—'कर्दुरो राक्षसे  
 पापे' [अने सं. का. ३ श्लो. ११२८] इत्युक्तेः नास्ति कर्दुरं-  
 पापं गस्यामौ तथा । [पुनः] किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमोः ?  
 'रदमौ' रत्तं—सुरत्तं करोति, "तत्करोति तदाचष्टे" इति [पाणिनि-  
 गणसूत्रेण] रत्तयते रत्तयतीति णिजि तल्लुकि क्शिपि तल्लुकि च रत्,  
 तस्मादमति—गच्छति योऽसौ रदमः, औः—पालक, रदमश्चासौ  
 औश्चेति कर्मधारये रदमोः । किम्भूतः प्राज्ञः ? 'अशरैः' बाण-  
 रहितैः, निष्कोधत्वात् । पुनः किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमोः ?  
 'अनिर्वर' "निर्वरं तु गतयपे" [अने सं. का. ३. श्लो. ११६६]  
 इति वचनाद् न निर्वर अनिर्वर, सलज्ज इत्यर्थः । पुनः किम्भू-  
 तः प्राज्ञः ? 'भव्यैः' मनोहरैः । पुनः किम्भूतः प्राज्ञः ? 'अनालि-  
 रभसः' "अम गतो" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् अमस्य—ज्ञानस्य  
 आलि—श्रेणि. अमालि. तथा रभसः—औत्सुक्यं यादार्थं येषां  
 ते तथा तैः । पुनः किम्भूतः प्राज्ञः ? 'अनिर्मः' २ निर्व्याजेः । पुनः  
 किम्भूतः प्राज्ञः ? 'अजितं' अपराभूतं, कः ? 'अजर्जरदुर्वारक-  
 द्दुरविदे' "जर्जरस्तु, वामवध्वजजीर्णयोः" [अने सं. का. ३  
 श्लो. ११५७] इत्युक्तेः न जर्जरा अजर्जराः—अजीर्णाः, नवीना  
 इत्यर्थः, दुर्वारा—वारणागव्या कद्दुराः—कुरिसताः, मिथ्याकथ-  
 कत्वान्, "कद्दुरं कुलिते" [अने. न. का. ३ श्लो. ११३०] इति  
 यथनप्रामाण्यात्, त्रयाणां कर्मधारये अजर्जरदुर्वारकद्दुराथ तै

१. "उरो दक्षसि मुखे द्यात्" इति अने. सं. का. २ श्लो. ५८० ।

२. "निर्मः स्यात् ऋगो व्याजे" अने. सं. का. २ श्लो. ३२२ ।

विदाश्च-विदन्ति-जानन्तीत्यत्रि विद्वास्ततः अजर्जरदुर्वारकङ्क-  
रविदः । पुनः किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमीः ? 'अस्ततरः'  
"संस्तरः प्रस्तरे मखे" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२१५] इत्युक्तेः  
न विद्यते संस्तरः-यज्ञः यस्य स तथा ॥३४॥

प्रभुरचतुरवित्त्वारक्षवैरङ्गिकारः,

शुभरथविरहक्षोऽरम्रशारण्यसौरः ।

अनरणिररिष्टेरङ्गरेऽरङ्गजूरः,

प्रटुरकृतिरराकाऽरक्षपूरम्यखोर ! ॥३५॥

व्याख्या—'अङ्गरे' ! इति सम्बोधनार्थमव्ययम् । 'हि  
अम्यखोर !' "अम भजे" अमतीत्यवंशीलोऽमी-भजकः, न  
सौरः अखोरः-अखञ्जः, अमी चासी अखोरश्च अम्यखोर-  
स्तदामन्त्रणं हे अम्यखोर !-हे मित्र !, 'पटुः' रोगविहीनः श्री-  
वरनाथजिनः, "पटुस्तीक्ष्ण-पटोलयोः । स्फुटे रोगविहीने च"  
[अने. सं. का. २ श्लो. १०८] इत्युक्तेः, 'अरिष्टेः' "अरिष्टं  
सूत्यगारेऽन्तर्निह्ये तत्रे शुभे" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७५०] इति  
वचनप्रामाण्याद् अरिष्टस्य-शुभस्य ई-क्षेपो यस्मात् स अरिष्टे-  
स्तस्य अरिष्टेः-पापस्य 'अनरणिः' न अरण अनरणिः, "नलोऽनिः  
नापे" [सि. हे. ५।३।११७] इति अनिप्रत्ययः, अनरणिः-अत्राण-  
मेव विदधानु इति शेषः । किम्भूतः पटुः ? 'प्रभुः' स्वामी ।  
पुनः किम्भूतः पटुः ? 'अचतुरवित्त्वारक्षवैरङ्गिकारः' अविद्य-  
मानानि अदृश्यानि वा चत्वारि घातिकर्माणि येषां ते अचतुरा  
नञ्मुव्युपत्रेधतुरः" [सि. हे. ७।३।१३१ ।] इत्यनेन नञ्-  
प्रत्ययात् परस्य चतुरशब्दस्य बहुव्रीहेरप्समासान्तप्रत्यये अच-

तुरा-केवलिनः द्वाविंशतिशतसहस्रधाकाः, "वित्तं विचारिते  
 ख्याते, धने" [अने. स. का. २ श्लो. २०६] इति पचनात्  
 तेषां वित्तं-घनं संयमलक्षणं तस्य आरक्षा-समन्ताद् रक्षणं यस्य  
 सः अचतुरवित्तारक्षः, वैरङ्गिकाः-विरागार्हास्तैः आरज्यतीति  
 "क्वचिद्" [सि. हे. ५।१।१७१], इति, डे वैरङ्गिकारः,  
 अचतुरवित्तारक्षश्चासौ वैरङ्गिकारश्च तथा । पुनः किम्भूतः  
 पटुः ? 'शुभरथविरहक्षः' "रथस्तु स्यन्दने पादे" [अने.  
 सं. का. २ श्लो. २३३.] इति पचनात् शुभो-भद्रो रथो क्रमो  
 यस्यासौ शुभरथः, विरहं क्षयतीति विरहक्षः, शुभरथश्चासौ  
 विरहक्षश्च तथा । पुनः किम्भूतः पटुः ? 'अरम्रशारण्यसौरः'  
 "रमिं क्रीडाया" "भोवृधिरुधिवज्यगिरमि" [सि. हे. उ. सू.  
 ३५७] इत्यौणादिके रप्रत्यये रम्र-कामुकः, न रम्रः अरम्र-  
 अकामुकः, शारण्यमेव शारण्यम्, स्वार्थे अण्, शरणयोग्यम्,  
 नूरीणां समूहः सौरम्, शारण्यं च तत् सौरं च यस्यासौ शारण्य-  
 सौरः, अरम्रश्चासौ शारण्यसौरश्च तथा । पुनः किम्भूतः पटुः ?  
 'इः' पवित्रं, गुणवत्त्वात्, "इ. कामः स्थाणुरिन्द्रोर्जो, वरुणः  
 पादपो द्विप. । शुचि," [सो. ए. ४] इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतः  
 पटुः ? 'अरहजूरः' "रघिक् भासि" अलन्तः, रघो-दीप्तिः  
 "जुयं इज्यानी वधे" ("जूरेच् हानी वधे"), तेन जूयंते-हीनो  
 भवति योज्यो रहजूरः, न रहजूरः अरहजूरः, प्रत्यहं प्रत्यह  
 दीप्त इत्यर्थः । पुनः किम्भूतः पटुः ? 'अकृतिः' "कृञ् वधे".  
 क्तिप्रत्ययान्तः, नास्ति कृतियंस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतः पटुः ?

१. "क्वचित्" इति मूत्र, इ इत्यस्य त्वनुवृत्तिः ।

तुराः—केवलिनः द्वाविंशतिशतसङ्ख्याकाः; “वित्तं विचारिते  
 ह्याते, धने” [अने. सं. का. २ श्लो. २०६] इति वचनात्  
 तेषां वित्त-धनं संयमलक्षण तस्य आरक्षा—समन्ताद् रक्षणं यस्य  
 नः अचतुरवित्तारक्षः, वैरङ्गिकाः—विरागार्हास्तैः आरज्यतीति  
 “क्वचिद्” [सि. हे. ५।१।१७१]; इति ङे-वैरङ्गिकार,  
 अचतुरवित्तारक्षश्चासौ वैरङ्गिकारश्च तथा । पुनः किम्भूतः  
 पटुः ? ‘गुभरथविरहक्षः’ “रथस्तु स्यन्दने पादे” [अने.  
 सं. का. २ श्लो. २३३] इति वचनात् गुभो—भद्रौ रथो क्रमौ  
 यस्यासौ गुभरथः, विरहं क्षयतीति, विरहक्षः, गुभरथश्चासौ  
 विरहक्षश्च तथा । पुनः किम्भूतः पटुः ? ‘अरम्भशारण्यसौर’  
 “रमि क्रीडायां” “भीवृधिरुधिवज्यगिरिमि” [सि. हे. उ. सू.  
 ३८७] इत्योणादिके रप्रत्यये रम्भः—कामुकः, न रम्भः अरम्भः—  
 अकामुकः, शरण्यमेव शारण्यम्, स्वार्थे अण्, शरणयोग्यम्,  
 सूरीणां समूहः मोरम्, शारण्य च तत् सौरं च यस्यासौ शारण्य-  
 मोरः, अरम्भश्चासौ शारण्यसौरश्च तथा । पुनः किम्भूतः पटुः ?  
 ‘ङः’ पवित्र, गुणवत्त्वात्, “इ. कोमः स्थाणुरिन्द्रोर्को, वरुणः  
 पादपो द्विप. । गुचि.” [सौ ए. ४] इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतः  
 पटुः ? ‘अरङ्गजूर’ “रघिक् भासि” अलन्तः, रघो—दीप्तिः  
 “जुर्यं इज्यानी वधे” (“जूरच्-हानी वधे”), तेन जूर्यते—हीनो  
 भवति योजौ रङ्गजूरः, न रङ्गजूरः अरङ्गजूरः, प्रत्यह प्रत्यहं  
 दीप्त इत्यर्थः । पुनः किम्भूतः पटुः ? ‘अकृतिः’ “कृत्र् वधे”  
 क्तिप्रत्ययान्तः, नास्ति कृतिर्यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतः पटुः ?

१. “क्वचित्” इति सूत्रं, ४ इत्यस्य खनुवृत्तिः ।

‘अराकारक्षपूः’ राकाः—दानारः, न राका अराकाः—कृपणास्तेषां  
आ-लक्ष्मीस्तां रक्षति—पालयति या मा अराकारक्षा, एवंविधा  
पूः—गरीरं यस्य, सः अराकारक्षपूः ॥ ३५ ॥

“पपर प्रकरणावेरद्धंपूरण्यभेर-

जित्तरवंपरपुष्टाः ! रद्धधीरङ्गचधेर ! ।

सुनुरक्षिखरदप्येरर्घ्यधोरप्रभोर-

कनिरतवरधर्त्तारः कपारय्यदोर ॥३६॥

व्याख्या—अकारः सम्बोधनार्थमव्ययम् । हे ‘अद्धंपूरण्यभे-  
रजित्तरवंपरपुष्टाः !’ “ऋधूच् वृद्धौ” धवन्तः, अद्धेन—समृद्ध्या  
“पूरैचि आप्यायने” पूरणगीलाः—वद्धनगीलाः ये ते अद्धंपूरणाः—  
व्यवहारिणः, ते विद्यन्ते येषां, ते अद्धंपूरणिनः, भेराः—कातराः, न  
भेराः अभेराः—दूराः, जितः—अभिभूतो रूवेन—शब्देन परपुष्टः—  
कोकिलो यैस्ते जित्तरवंपरपुष्टाः, अद्धंपूरणिनश्च ते अभेराश्च ते  
जित्तरवंपरपुष्टाश्च अद्धंपूरण्यभेरजित्तरवंपरपुष्टास्तेषां आमन्त्रणं  
हे अद्धंपूरण्यभेरजित्तरवंपरपुष्टाः !—हे राजानः ! यूयं ‘पपर’  
प्रीता अभूत, “पृट् प्रीतो” इति धातोः परोक्षायां मध्यम-  
पुरुषवहुवचनेषु रूपम् । कस्मात् ? ‘प्रकरणावेः’ प्रकरणस्य—  
प्रस्तावस्य अविः—ज्ञानं यस्मात् स तथा, तस्मात् प्रकरणावेः—  
श्रीअरनाथतीर्थकृतः, “अव गतो” गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्  
“इकिश्चित् स्वहपार्थे” [सि. हे. ५।३।१३८] इति इप्रत्ययः ।  
किम्भूतात् प्रकरणावेः ? ‘रद्धधीरङ्गचधेः’ “रघीच् हिंसा-  
संराद्धयोः” वेदत्वात् क्योनेद्, रद्धा—पक्षा घीः—बुद्धिः येषां ते  
रद्धधियः, “रगि गतो”—गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वाद् रङ्गधाः—प्राप्तुं



योग्याः, रद्धधियश्च ते रद्धघाश्च रद्धधीरद्धघास्तान् धियंति-  
 दधाति योऽसौ रद्धधीरद्धघेस्तस्मात्, "धित् घृतो" विजन्तः ।  
 पुनः किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'सुनु.' सुष्ठु ना सुना, तस्मात्  
 सुनुः-शोभनपुरुषात् । पुनः-किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'अशिखर-  
 दप्येः' शिखराग्रमिव दन्ता येषां ते शिखरदन्तः, "वाऽग्रान्त-  
 शुद्धशुभ्रवृषवराहाहिमूपिकशिखरात्"- [सि. हे. ७।३।१५४]  
 इत्यनेन सूत्रेण शिखरशब्दात् परस्य दन्तशब्दस्य बहुव्रीही  
 दत्रादेशे समासान्ते शिखरदन्, न शिखरदन्तोऽशिखरदन्तः,  
 "प्यङ् वृद्धौ" विचि तैः प्यायते योऽसौ अशिखरदप्येस्तस्मात् ।  
 पुनः किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'अर्घ्यघोरप्रभोः' "धोऽर्घ्यं गति-  
 चातुर्ये" अत्रि घोराः-चतुरा, अर्घ्याश्च ते-पूजनीया घोरांश्च  
 चतुरा अर्घ्यघोराः, तेषां प्रभुः-स्वामी योऽसौ तथा तस्मात् ।  
 किम्भूताः अर्द्धपूरण्यभेरजितरवपरपुष्टाः ? 'अकनिरतवरर्घ्यत्तारिः'  
 "कं सुखं तोय पयो दुःखं" [सी. ए. २०] इत्युक्तेः कं-  
 दुःखं, न क अक-सुखं, तत्र निरताः-आसक्ता ये ते अकनिरता-  
 "वृद्धं मम्भवती" वृणन्तीति वराः-मेवकाः, अकनिरताश्च ते  
 वराश्च अकनिरतवरास्तेषां घर्त्तारो ये ते तथा । पुनः किम्भूतात्  
 प्रकरणावेः ? 'कपारय्यदोः' कं-सुखं पारयन्ति-पूरयन्तीति  
 कपारयाः-भव्यजनास्ते श्रावकत्वेन विद्यन्ते यस्य न कपारयो,  
 "दुदुद् उपतापे" विचि न दुनोतीति अदो, कपारयो च अदोश्च  
 कपारय्यदोस्तस्मात् । अकारः पादपूरणार्थमव्ययम् ॥ ३६ ॥

सोऽकारयद् चरक ! हारकदारजीवरः

समं रमण्यरणतेरपचारकपिरः ।

नेतारः आशिरपमारय आरदन्त्यर-

महोर प्रत्युरतनीरलभूरशावरः ॥३७॥

व्याख्या—'हे वरक !' हे मित्र !, यदुक्तमुणादिवृत्तां—  
 "वरकः वधूजानिः सहायः वाजसनेयभेदश्च" [सि.हे.उ.सू. २७]  
 इति । 'नेतारः' प्रस्तावात् मुखप्रापकाः पुरुषाः । 'अरं' शीघ्रं  
 'आरवन्ति' समन्तात् शब्दयन्ति । किं तत् ? 'सः' अरनाथजिनः  
 'समं' सुखं, यदुक्तमुणादी—"समं<sup>१</sup> स्नानं<sup>२</sup> सुखं च" [सि.  
 हे. उ. सू. ३३८] इति, 'अकारयत्' अकरोदित्यर्थः, स्वार्थे  
 णिजन्तत्वाद् णिगर्थो न प्रतिपाद्यते, यथा—"रामो राज्यम-  
 कारयत्" । कस्य ? 'रमण्यरणते.' रमण्या—शोभना, "रमण्यं  
 शोभनं" [सि. हे. उ. सू. ३७६] इति उणादिवृत्तौ, "रा लक्ष्मीः"  
 [सौ. ए. ८२] इत्युक्तेः रमण्या—शोभना रा—लक्ष्मीर्यस्यासौ  
 रमण्यरः, "णः प्रकटे" [सु. ए. २२] इति मुधाकलशोक्तेः  
 "पूजायां तिः स्त्रियां" [वि. ए. ६१] इत्युक्तेः णा—प्रकटा. तयः—  
 पूजाः यस्यासौ णतिः, रमण्यरश्चासौ णतिश्च रमण्यरणतिस्तस्य  
 रमण्यरणतेः—श्रावकजनस्य । किम्भूतः सः ? 'हारकदारजीवरः'  
 हारकस्य—कितवस्य "हारको गद्यविज्ञानभिदोः कितवचौरयोः"  
 [अने. सं. का. ३ श्लो. ७०६] इति वचनप्रामाण्यात्, 'दारः—  
 विदारणं यस्मात् स हारकदारः, जीवरः—दीर्घायुः, यदुक्त-  
 मुणादी—"जीवरः दीर्घायुः" [सि. हे. उ. सू. ३६७] हारक-  
 दारश्चामी जीवरश्च हारकदारजीवरः । पुनः किम्भूतः सः ?

१. "समं-समं नान्ताऽदन्ते, दन्ततालव्याद्ये मते ॥४॥" शब्द-

रत्नाकरः का. ६. २. "स्थानं" इति मुद्रिते ।

'अपचारकपिर' 'अप-गतश्चारेके. -कारो येषां ते अपचारका,  
 'चारकोऽश्वादिपाले स्याद् वन्धे' [अने. स. का. ३ श्लो. ६४५]  
 इति वचनप्रामाण्यात्, अपचारकाश्च ते ऋषयश्च-साधवः अप-  
 चारकर्षयस्ते राजति-शीप्यते योऽसी तथा । किम्भूता नेतारः ?  
 'आशिरपमारय.' आशिरा इव-आदित्या इव ये ते आशिराः,  
 यदुक्तमुणादौ-“आशिरः [विष्णु.] आदित्यश्च” [मि. हे. उ. सू.  
 ४१५] अप-गता मारिष्येभ्यस्ते पमारय., यदुक्तं-“वष्टि भागु-  
 रिरल्लोपमवाप्योहसगंधो.” [पा. सि. को. पृ. १०६] इति,  
 आशिराश्च ते पमारयश्च आशिरपमारय । पुनः किम्भूतः स. ?  
 'अहो' "वस निवासे" किवन्त., अहं-योग्य. उस्-वासो  
 मुक्तिगृह यस्यासौ तथा । अकार पादपूर्तो । पुनः किम्भूतः  
 स. ? 'प्रत्युरसो' उरसि वर्तते देवत्वेन येषां ते प्रत्युरसाः,  
 यद्वा उरसि देवत्वेन प्रतिष्ठितो यैस्ते प्रत्युरसा.-थावकास्ते-  
 भ्यो नो-मनुतिषंम्मात् म तथा । पुनः किम्भूतः स. ?  
 'अलभू.' "अल वारणपर्याप्तिभूपासु" इति वचनाद् अलन्तः,  
 अलस्य-भूपाया भूः-स्थान य. स तथा । पुनः किम्भूतः स. ?  
 'अगावर.' "शावरो रोध्रपापयो." [अने. स. का. ३ श्लो.  
 १००६] इत्युक्ते. न विद्यते गावर-पापं यस्य यस्माद्वा  
 स तथा ॥३७॥

सज्जूरनश्चर ! तुसोर किशीरभास्वरः,

कर्पूरहृत्करगुणोऽरथकारमेधिरः ।

सच्छारदीनरधनेरविशारदागर-

प्राग्भारविड्धरधियुक् रदनौरमन्थरः ॥३८॥

व्याख्या—‘हे अनश्वर !’ “नगोच् अदर्शने” नश्यती-  
न्येवंशीलो नश्वरः, “सृजीण्णशब्द्वरप्” [सि. हे. १।२।७७]  
इत्यनेन शीलादिसदर्थे द्वरप् प्रत्ययः, न नश्वरः अन-  
श्वरः, तत्सम्बोधनं हे अनश्वर !—हे सखे ! ‘सज्जूः’ “जु गतो”  
सौत्रो घातुः, सत्सु—साधुषु जुवति—गच्छतीत्येवंशीलः सज्जूः,  
द्विद्युद्दृज्जं०” [सि. हे. १।२।८६] इत्यादिसूत्रेण शीलादौ सत्यर्थे  
क्विप् निपातः, ‘सुसोर’ दुग्धुभे । किम्भूतः सज्जूः ? ‘किदोर-  
भास्वरः’ किशोराः—तृणाः प्रस्तावाच्छिष्यास्तैः भास्वरः—  
मनोजो योज्झी तथा, गिष्यशोभन इत्यर्थः । पुनः किम्भूतः  
सज्जूः ? ‘कर्पूरहृत्करगुणः’ कर्पूरश्च—घनसारः हृत्करश्च—ईश्वर-  
स्तद्वद् निमला गुणा यस्य स कर्पूरहृत्करगुणः । पुनः किम्भूतः  
सज्जूः ? ‘अर्यकारमेधिरः’ “रथकारस्तक्षणि स्यान्माहिष्यात्  
करणीसुते ।” [अने सं. का. ३ श्लो. १६४६] इति वचन-  
प्रामाण्याद् रथकारा—क्षत्राद् वैश्याया जातो माहिष्यः, वैश्या-  
च्छूद्राया जाता करणी, तयोः सुतः र्यकारः, न रथकाराः  
अर्यकाराः—उभयपक्षशुद्धा मेधिराः—मेधाविनो यस्यासौ तथा,  
मेधिर इत्यत्र “मेधारयान्नवेरः” [मि. हे. ७।२।४१] इत्यनेन  
सद [मत्व]र्थे इरप्रत्यये मेधिर इति निष्पत्तिः । पुनः किम्भूतः  
सज्जूः ? ‘सच्छारदीनरघनैः’ जरदि भव. शारदीनः—चन्द्रः सतां—  
मज्जनाना आह्लादकत्वेन शारदीन इव शारदीनः सच्छारदीनः,  
“रघोच् हिंसासंराध्यो.” रघ्यन्ति—घ्नन्ति जीवान् इति अनटि  
रघनाः—हिंसकास्तेभ्य एति—याति योज्झी रघनैः, सच्छारदीन-  
श्चासौ रघनैश्च सच्छारदीनरघनैः । पुनः किम्भूतः सज्जूः ?  
‘अविशारदागरप्रारम्भारविड्वरवियुक्’ आः—जनाः “अः कृष्णः

शङ्करो ब्रह्मा, शक्रः सोमोज्ज्वलोज्ज्वलः, सूर्यः प्राणो जन." [सौ. ए. २] इति वचनात्, तेषां मध्ये विशारदाः—विद्वांसो ये ते अविशारदास्तान् आगरयन्ते—समन्ताद् विजानन्ति ये ते अविशारदागराः "गृकड् (गृणि) विज्ञाये विज्ञाने च" तेषां प्राग्भार.—आधिक्यं यस्मिन् स अविशारदागरप्राग्भारः, विड्वरः—शत्रूद्भवस्तेन वियुग्—रहितो योऽसौ विड्वरवियुक्, अविशारदागरप्राग्भारश्चासौ विड्वरवियुक् चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूत. सज्जू. ? 'रदनीः' रदनैः—दन्तैः अवति—दीप्यते योऽसौ तथा । अविशारदागरप्राग्भारविड्वरवियुक् अग्रे रदनोरित्यत्र "न मन्धि." [सिं हे. १।३।५२] इत्यनेन सूत्रेण सन्ध्यकरणमदुष्टम् । पुनः किम्भूत सज्जूः ? 'अमन्यरः' अवक्रः, मरल इत्यर्थः, "मन्यरः सूचके कोशे, वक्रे" [अने. सं. का ३ श्लो. ११६०] इति वचनप्रामाण्यात् ॥३८॥

बुद्धैरबोधि रतिभूरशनैरनघर-

नघैरसूतिरयमेरदरैरदुद्धरः ।

सेव्यैरकच्चरवरैरमभैरसेश्वरः,

साक्षैरनूतिरदहैरपरैरमुर्मुः ॥३९॥

व्याख्या—'बुद्धै' पण्डितैः 'अयं' साम्प्रतं वर्ण्यमानो गुरुर्जिनः 'रतिभूः' राश्च—दृढा तयश्च—पूजा रतयस्तामा भूः—स्थानं रतिभूः 'अबोधि' ज्ञात, श्रीअरनाथजिनः पण्डितैः पूजास्पदं ज्ञात इत्यर्थः । कथं ? 'अशनैः' शीघ्रम् । किम्भूतैः ? 'अनघरनघ्रैः' "अदं पताक् भक्षजं" अदन्तीत्येवंशीलाः "सृषस्यदो मरक्" [सिं हे. ५।२।७३] इत्यनेन शीलादिसादेयै मरक्प्रत्ययै

अक्षरा-भक्षणशीलाः, न अक्षराः अनक्षराः, न भ्राः-नमनशीलाः,  
 अनक्षराश्च ते, न भ्राश्च, अनक्षरनभ्रास्तैः-। किम्भूतोऽयं ?  
 'असूतिः' न विद्यते सूतिः-जननं यस्य, स तथा । पुनः  
 किम्भूतोऽयं ? 'ए' एति-शिवश्रियं प्राप्नोति योज्सी तथा,  
 "इण् गतो" विजन्तः । पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अदरः' भयरहितः ।  
 पुनः किम्भूतोऽयम् ? 'अदुर्द्धरः' नोत्कट इत्यर्थः । पुनः किम्भू-  
 तैर्बुद्धैः ? 'सेव्यैः' सेवाहः । पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अकच्चरवरः'  
 "मलिन कच्चर" [अ. चि. ६।७१] इत्युक्ते, न कच्चराः  
 अकच्चरा-गुणनिर्मलाः, अत एव वरा-श्रेष्ठा ये ते अक-  
 च्चरवरास्तैः । पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अमभैः' "अम गती"  
 गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् अलन्तः, अमेन-ज्ञानेन भाति-गोभते  
 अमभास्तैः । पुनः किम्भूतोऽयं ? 'अमेश्वरः' "असूचं क्षेपे"  
 अचि अस्यन्ति-चत्वारि घातिकर्माणि क्षिपन्ति ये तं असाः-  
 सामान्यकेवलिनस्तैः ईष्टे योज्सी, "स्थेशभासपिसकसो वर." [सि. हे. ५।२।८१] इत्यनेन शीलादिमत्यर्थे वरप्रत्यये  
 असेश्वरः । पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'साक्षैः' सह अक्षैः-इन्द्रियैः  
 वर्तन्ते इति साक्षास्तैः । पुनः किम्भूतोऽयं ? 'अनूतिः' "अव  
 वधे" क्तो ऊतिः, न विद्यते ऊति-वधो यस्मिन् स तथा ।  
 पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अदहैः' दहो-दाहः, न दहन्तीति  
 अदहास्तैः । पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अपरैः' अप-गतो रः-कामो  
 येभ्यस्ते तथा तैः, "रः कामे" [मु. ए. ३६] इत्युक्तेः, गत-  
 कामैः । पुनः किम्भूतोऽयं ? 'अमुर्मुरः' निर्गन्मथः, "मुर्मुरो  
 मन्मथे" [अने. सं. का. श्लो. ११६७] इति वचनप्रामा-  
 ण्यात् ॥ ३६ ॥

कविरमसुरसंस्कारः पदारप्रभारः;

प्रसुर उदरभूसीरः कुटारः कुवेरः ।

चतुरकदरकेदारप्रनग् रद्विचारः;

शबरविधुरशृङ्गारक्षरोरङ्गचहोरः ॥ ४० ॥

व्याख्या—‘प्रसुरः’ “सुरत् ऐश्वर्यदीप्यो.” प्रसुरति-  
प्रदीप्यते जगति यतिषु [वा] योऽसौ अत्रि प्रसुर.—श्रीअर-  
नाथजिन भद्रं क्रियाद् इति शेष । किम्भूतः प्रसुरः ? ‘कवि.’  
विद्वान् । पुन किम्भूत प्रसुरः ? ‘अमसुरसंस्कारः’ “ममूरो  
मसुरोऽपि च । मसुरा च मसूरा च, चत्वारः पण्ययोपिति ॥  
तथा व्रीहिविशेषेऽपि” [अने सं. का. ३ श्लो. ११६१, ११६२]  
इति वचनप्रामाण्याद् न विद्यन्ते मसुराः—पण्ययोपितो येषां  
ते अमसुरा—मुगीला. श्रावकास्तः. नह संस्कार.—अनुभवनं  
यस्य न तथा, “संस्कार प्रतियत्नेऽनुभवे” [अने. सं. का.  
३ श्लो १२१६] इत्युक्ते. । पुन. किम्भूत प्रसुर ? ‘पदार-  
प्रभार’ [पदारे—] पादालिन्दे—पादपीठे, “पदारः पादधूलिषु ।  
पादालिन्दे” [अने सं. का ३ श्लो ११७४] इति हेमानेका-  
थोक्ते, प्रभया—कान्त्या राजते—दीप्यते योऽसौ तथा । पुन.  
किम्भूत प्रसुरः ? ‘उदरभूसीर.’ उदरमेव—व्याधिरेव भूः  
उदरभू.—व्याधिपृथ्वी, तस्या विदारणे सीर इव—लाङ्गलमिव  
योऽसौ तथा । पुन. किम्भूतः प्रसुरः ? ‘कुटारः’ रत्., अर्थात्  
शिवश्यामक्त इत्यर्थः, “कुटारं? केवले रते” इत्युक्तेः वाच्य-  
लिङ्ग. । पुनः किम्भूत प्रसुर ? ‘कुवेरः’ धनेन् कुवेर इव—

घनद इव योऽशो-तथा । पुनः किम्भूतः प्रसुरः? 'चतुरकदर-  
केदारप्रनग्', चतुराणां-विदुषः-स्तुतिकर्तृणां कदरः-क्षुद्ररोगः  
कुष्ठादिः स एव, केदारः-आलवालस्तस्य "नशोच् अदर्शने" कि-  
यन्तः, प्रनशनं प्रनक्, प्रनग्-अदर्शनं-नशनं, यस्मात् स चतुर-  
कदर[केदार]प्रनग्, "कदरः श्वेतखदिरे, क्रकचक्षुद्ररोगयोः ॥"  
[अने. सं. का. ३ श्लो. ११२६] इत्युक्तेः, "केदारः क्षेत्रभिद्याल-  
वाले" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११४५] इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतः  
प्रसुरः? 'रद्विचारः' "रम क्रीडायां" "गमां कौ" [सिं. हे. ४।२।  
५८] इति क्विपि [मंकारलुकि] रमन्ते ज्ञानश्रिया समं ये ते  
रतः-पण्डितास्तेः सह विचारो-विचरणं यस्य स तथा । पुनः  
किम्भूतः प्रसुरः? 'शवरविधुरशृङ्गारक्षरोः' शवराः-म्लेच्छाः  
विधुरा-विकलाः, ग्रथिला इत्यर्थः, "विधुरं स्यात् प्रतिश्लेषो  
(प्रविश्लेषे), विकले" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२०४] इत्युक्तेः,  
शृङ्गारः-मुरतः, "शृङ्गारो गजमण्डने, सुरते" [अने. सं. का. ३  
श्लो. १२१४] इत्युक्तेः, शवराश्च विधुराश्च शृङ्गारश्च शवरविधुर-  
शृङ्गाराः, तेभ्यः क्षरन्ति-चलन्ति ये ते शवरविधुरशृङ्गारक्ष-  
रास्तेषां उः-पालनं, यस्य स तथा, "रक्षार्थं वाचकावेतौ, व्या-  
म्याती लघुदोधेको ।" [वि. ए. ११] इति विश्वशम्भूक्तेः । पुनः  
किम्भूतः प्रसुरः? 'अङ्गचहोरः' "अग्नि गती" यवन्तः, अङ्गघाः-  
प्रापणीयाः होराः-शास्त्राणि प्रस्तावाद् आचाराङ्गादीनि सिद्धा-  
न्तानि यस्यासौ तथा, "होरा तु लग्ने राश्यर्द्धे, शास्त्ररेखा-  
प्रभेदयोः ॥" [अने. सं. का. ३ श्लो. ४७६] इति हेमानेकार्थ-  
वचनात् ॥ ४० ॥



पस्फार संसरणनीरधितोरमित्वर-

नोद्धारपुष्करसुसूरविदारजित्वरः ।

सुश्रीरकन्तुरसकौरपकौ रशान्त्यरः,

शान्तोरयोनिररतेरहतेरधूसरः ॥४१॥

व्याख्या—‘असकौ सुश्रीः’ शोभनलक्ष्मीक श्रीधर-  
नाथजिन. ‘संसरणनीरधितोरं’ संसरणं—संसार., “संसरणं त्वस-  
म्वाथचमूगतौ । संसारे” [अने. सं. का ३ श्लो. १४६३-१४६४]  
इति हेमानेकार्थोक्ते., संसरणमेव नीरधिः संसरणनीरधिः—  
संसारमागर., नीरशब्दो जलवाची औषादिकः, तस्य तीर—प्रान्तं  
तटं वा संसरणनीरधितोर, तत् संसरणनीरधितोरं ‘पस्फार’  
प्राप्तवान्, “स्फर स्फलत् स्फुरणे, चलने [इत्येके]” इति घातु-  
पारायणवचनाद्, गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वात् परोक्षायां णवि रूपम् ।  
किम्भूतः [सुश्री.] ? ‘इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरविदारजित्वरं’  
“इण्क् गती” ज्ञानार्थोऽत्र, यन्तीत्येवशीलाः “सृजीण्णशष्ट्वरप्”  
[सि. हे. ५।२।७७] इत्यनेन द्वरवि इत्तराः—पण्डिताः  
ना—नराः, “नो नरे च मनाथेऽपि” [वि. ए. ७६] इति  
विश्वशम्भुक्तेः, तेषां उद्धारः—उद्धारणं नमारपातादिति येषां  
ते नोद्धारः, इत्तराथ ते नोद्धारः इत्वरनोद्धारः, त एव  
पुष्कराणि—पद्मानि तेषां विकासने सुसूर इव—प्रधानभानुरिव  
योऽपी इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरः, विदारः—मद्ग्रामे “विदारो  
युधि” [अने. सं. का. ३ श्लो. १२०३] इति वचनप्रामाण्यात्,  
शत्रून् जयन्तीत्येवशीलाः “सृजीण्णशष्ट्वरप्” [सि. हे. ५।२।७७]  
इति द्वरवि विदारजित्वरः, इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरधासौ

विदारजित्वरश्चेति कर्मधारये इत्वरनोद्वारपुष्करसुमूरविदार-  
जित्वरः । पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'अकन्तुः' निष्कामः,  
"कन्तुः कामकुसूलयो." [अने. संः का. २ श्लो. १७५]  
इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'रपकोः' "रप भापणे"  
अकचि रपन्ति-भापन्ते स्याद्वादमिति रपकास्तान् अवति-रक्षति  
योऽसौ तथा । पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'अशान्त्यरः' न  
शान्तिः-अशान्तिः, अशान्तेः न विद्यते राः-दानं परिमन् स तथा ।  
पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'शान्तोः' शान्तानां-उपशमवतां उः-  
पालनं यस्य स तथा । पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'अयोनिः'  
अकारेण, कस्य ? 'अरतेः' असुखस्य, कस्य ? 'अहृतेः' अहि-  
सकस्य । पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'अधूसरः'- निर्दोषत्वाद्-  
निर्मल इत्यर्थः ॥४१॥

विजर ! विकर शुभ्रेरं नसारण्डझार-  
गमिरटगरगान्धारप्रहेरस्वपोरः ।

छिदिरविधरदण्डारस्वभूरज्यंदोर,

प्रवरपदरविन्दो रम्बसूरथ्यधूरः ॥४२॥

व्याख्या—'हे विजर !' विगता जरा येस्मात् स विज-  
रस्तत्त्वशोधनं हे विजर !-हे श्रीभरनायजिन ! 'अं' परब्रह्म-  
'विकर' विशेषेण कुरु, "अं मान्तो ब्रह्ममंवादे, परब्रह्म-  
प्रवाचकः ।" [वि. ए. १६] इत्युक्तेः । कस्य ? 'शुभ्रेः'-  
शुभ्राः निर्दोषत्वाद् धर्मोपाजितत्वाद्वा इः-लक्ष्मीर्यस्यासां-  
शुभ्रेः, तस्य शुभ्रेः-भक्तश्रावकस्य । किम्भूतस्त्वं ? 'नसा-  
रण्डझारगमिः' सरण्डाः-धूर्ताः, "सरण्डः-स्यात्-कृकलासे,

रचयंः? 'कान्तैः' वल्लभैः । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'रमयैः'  
 रमयस्य-प्रहर्षस्य ईः-क्षेपो यस्मात् स तथा, "रमयः प्रहर्षः"  
 [सि. हे. उ. सू. २३२] इत्युणादिवचनात् । पुनः किम्भूतस्त्वं?  
 'अमुद्गरः' प्रहरणविशेषरहितः । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'काश्मीर-  
 जाचिः' काश्मीरजेन-धुसृणेन अचिः-पूजा यस्यासी तथा ।  
 पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अकुठेरकथेरपीवरनिश्चौरकः' कुठेरः-  
 निस्तृतसारः, न कुठेरः अकुठेरः, कथेरः-कथकः धर्मवक्ता  
 इत्यर्थः, कुठेरकथेरशब्दौ औणादिकौ, पीवरः-पुण्ड्रः शरीरेणेति  
 गम्यते, न तु कृगतनुः, निर्गतं चौरकं-चौरिका यस्मात् स  
 निश्चौरकः, चतुर्णां कर्मधारयः, "चोरादेः" [सि. हे. ७।१।७३]  
 चोरादिभ्यस्तस्य भावे कर्मणि चाकञ्प्रत्यये चौरकम् । पुनः  
 किम्भूतस्त्वं? 'करचनोरलघू' कस्य-मुखस्य, रचना-विरचनं  
 यस्य म करचन, उरलाः-उत्कटाः-मदोत्कटास्तान् ध्रुवति  
 योऽसौ उरलघूः, "धूत् कम्पे" क्विबन्त, करचनंश्चासौ उरलघू-  
 श्चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अभङ्गुरः' न भङ्गुरः  
 अभङ्गुरः-न नधर इत्यर्थः, "भङ्गुरी वक्रतधरी" [अने. सं.  
 का ३. श्लो ११८४] इत्युक्ते ॥ ४३ ॥

बन्धुरनागरकभैरवचोरडस्फरः,

फर्जूरधाशुरविमोरखटूरकर्परः ।

पिण्डारशावंरमसूरनिकारशाधवरः,

साधून् ररक्ष रजतीरवनोरदवंरः ॥४४॥

ध्याय्या—'अदवंरः' नास्ति दवंरः-वञ्चं यस्य सोऽदवंरः-  
 श्रीअरनाथजिनः 'साधून्' मुनीन् 'ररक्ष' पालयामाम् ।

किम्भूतोऽद्वरः? 'बन्धूनागरकभैरवचोरडस्फरः' "बन्धूरो  
रम्यनम्रयोः ।" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११८१] इत्युक्तेः बन्धूराः—  
नम्रा रम्या वा नागराः—लोका जस्मिन् स बन्धूनागरः, केन-  
दुःखेन भैरवाः—घोराः कभैरवा. ते च ते चोरडाश्च—तस्कराः  
कभैरवचोरडाः, तेषां स्फरः—गमनं यस्मात् स कभैरवचोरडस्फरः,  
"स्फर स्फलत् स्फुरणे, चलने इत्येके" इति धातुपारायण-  
वचनाद् अलन्तः, बन्धूनागरश्चासौ कभैरवचोरडस्फरश्चेति  
कर्मधारयः । पुनः किम्भूतोऽद्वरः? 'कर्जूरवाशुरविमीः'  
कर्जूराः—मलिनाः पापमलिनाः, अत एव शठत्वाद् वाशुरा इव-  
गर्दभा इव ये ते कर्जूरवाशुराः, तेषां विशिष्टा मीः—मतिर्यस्मात्  
स कर्जूरवाशुरविमीः, कर्जूरवाशुरेशब्दौ औणादिकौ, "मीकि  
गत्यां मत्यां" [कवि. क. श्लो.] इति कविकल्पद्रुमोक्तेः क्विन्तः ।  
पुनः किम्भूतोऽद्वरः? 'खट्टूरकर्परः' खट्टूरः—मणिविशेषः,  
"खट्टूरो मणिविशेषः" [सि. हे. उ. सू. ४२७] इत्युणादिवृत्तौ,  
कर्परः—यस्त्रविशेषः, खट्टूरश्च कर्परश्च खट्टूरकर्परी, तौ न  
स्तः यस्य स तथा, "कर्परस्तु कटाहे स्याच्छस्त्रभेदकपालयोः ।"  
[अने. सं. का. ३ श्लो. ११३०] इति वचनप्रामाण्यात् । पुनः  
किम्भूतोऽद्वरः? 'पिण्डारशाव्रंरमसूरनिकारशाकरः' पिण्डारः—  
भिक्षुकः, "पिण्डारो भिक्षुके" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७८]  
इति हेमाचार्याः, शाव्रंराः—धातुकाः "शाव्रंरं धातुके" [अने.  
सं. का. ३ श्लो. १२०६] इत्युक्तेः, मसूराः—पण्ययोपितः, "मसूरो  
मसुरोऽपि च । मसुरा च मसूरा च, चत्वारः पण्ययोपिति ॥ तथा  
व्रीहिविशेषेऽपि" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११६०, ११६१] इत्युक्तेः,  
शाव्रंराश्च मसूराश्च शाव्रंरमसूरास्तेषां निकारः—पराभवो येषां

ते “निकारस्तु पराभवे ॥ धान्योत्क्षेपे” [अने. सं. का ३ श्लो. ११६६, ११७०] इत्युक्ते. शार्वरमसूरनिकाराः, पिण्डाराश्च ते शार्वरमसूरनिकाराश्च पिण्डारशार्वरमसूरनिकाराः, तेषां मध्ये आकर<sup>१</sup> इव—वृषभ इव योऽसौ तथा । पुन. किम्भूतोऽद्वरः ? ‘रजती.’ “रञ्जी रागे” “इकिश्चित् स्वरूपार्थे” [सि. हे. ५। ३। १३८] इति तिवि, रजति.—रागः प्रस्तावाद् धर्मरागः तस्य इ—प्रापण यस्मात् स तथा । पुनः किम्भूतोऽद्वरः ? ‘अवनोः’ अव—निधितो नोः—स्तुतिर्यस्मात् स तथा, “णुक् स्तुतो” विजन्तः ॥ ४४ ॥

मृदरनिकरहारी रन्ध्रहोऽरक्षदाऽरः, . . .

शिविरभिदिरकृद् गौरप्रजीरः पवीरः ।

वठरवमरवित्ती रम्भतीरम्मदा रः,

सदुरसिलररुक्ररक्षपारक्कुरीरः ॥४५॥

व्याख्या—‘मृदरनिकरहारी’ मृदराणा—व्याधीनां निकर—समूहः मृदरनिकर, तद् हरतीत्येवंशीलो मृदरनिकरहारी ‘अर.’ अरनाथजिनः ‘अरक्षत्’ अपालयत् सेव[का]निति शेषः । किम्भूतोऽर. ? ‘रन्ध्रह’, रन्ध्राणि प्रस्तावात् पापच्छिद्राणि तानि हन्ति योऽसौ रन्ध्रह.—पापच्छिद्रभञ्जक इत्यर्थः । आकारः सम्बोधनार्थमव्ययम् । पुन किम्भूतोऽरः ? ‘शिविरभिदिरकृत्’ शिविरस्य—सैन्यस्य भिदिर—भेद तत् करोतीति यः स तथा, “भिदिरं<sup>२</sup> वञ्चं भेदश्च” [सि. हे उ सू. ४१६] इत्युणादी ।

१. “आकरस्तूष्ठा” इति अने. सं. का. ३ श्लो १२१० ।

२. “भिदिरं अग्निः भेदश्च” इति मुद्रिताया हंमोणादिवृत्तौ ४१६ ।

पुनः किम्भूतोऽरः? 'गौः' "गुड्ग शब्दे" विचि गवति-धर्म  
 शब्दयति योऽसौ तथा । पुनः किम्भूतोऽरः? 'अप्रजीर.' प्रकृष्टाः  
 जीराः प्रजीराः-प्रधानाश्वाः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—" जीरः  
 अजाजी अग्नि. 'स्नायुः अश्वश्च" [सि. हे. उ. सू. ३६२]  
 इति, न सन्ति प्रजीरा यस्यासौ तथा, त्यक्तगृहस्यावासत्वात् । पुनः  
 किम्भूतोऽरः? 'पवीरः' धर्मेण निर्मलः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—  
 "पवीरं रङ्गस्थानं फलं पवित्रं च" [सि. हे. उ. सू. ४१८] इति ।  
 पुनः किम्भूतोऽरः? 'वठरवमरवित्तिः' 'वठराः-बृहद्देहा ये  
 वमराः-मूर्खाः दुर्मेधसः, यदुक्तमुणादौ—"वमराः दुर्मेधसः" [सि.  
 हे. उ. सू. ३६७] वठरवमरास्तेषां वित्तिः-ज्ञानं यस्मात् स तथा,  
 बृहद्देहशठानां ज्ञानप्रद इत्यर्थः । पुनः किम्भूतोऽरः? 'रम्भती-  
 रम्मदाः' "रभिड्ग शब्दे" "इकिश्चित् स्वरूपार्थे" [सि.  
 हे. ५।३।१३८] इति त्रिवि, रम्भतिः-शब्दनम्, तं एति-व्या-  
 ख्यानक्षणे प्राप्नोति योऽसौ । रम्भती, इरा-सुरा तथा माद्यन्ति-  
 हृष्यन्ति ये ते इरम्मदाः-मद्यपानकराः, तेभ्योऽसुं गर्भनं-व्रजनं  
 यस्य स इरम्मदाः, "असञ्ज् अवार्थे" "अचार्थे दीप्तिग्रहणगतिपु"  
 इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्तेः, रम्भतीधासौ इरम्मदाश्चेति कर्म-  
 धारयः । पुनः किम्भूतोऽरः? 'रः' रवति क्षुभं योऽसौ 'डेरः,  
 धुभरवक इत्यर्थः । पुनः किम्भूतोऽरः? 'सदुरसिल्' सन्तः  
 प्रशस्ताः ये उरसिलाः सदुरसिलाः-प्रशस्तोरस्वन्तस्तान् आचष्टे

१. "वायुः" इति मुद्रितोणादिवृत्तौ ।

२. "वठर-मूर्खः बृहद्देहश्च" इति हेमोणादिवृत्तौ सू. ३९७ ।  
 अनेकार्थे तु "वठरो मूर्खसठयो" १८१॥ इति ३।१।

३. 'डे' ऽप्रत्यये कृते इत्यर्थः ।

इति सदुरसिलयति, सदुरमिलयतीति णिजि तल्लुकि विवणि  
 तल्लुकि च सदुरसिल् । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'अररुकूरक्ष-  
 पारक्कुरीरः' अरवः—असुराः, यदुक्तमुणादिवृत्त्वाम्—  
 "अरहः अमुर आयुधं मण्डलं च" [सि. हे. उ. सू. ८१२]  
 तद्वत् कूरा ये ते अररुकूरा—दुर्दान्ता शत्रवस्तान्  
 क्षयति योऽसौ अररुकूरक्षः, "क्षि क्षयैश्चर्ययोः" इत्युदतेः,  
 पारजः—रत्नानि, प्रस्तावाद् गुणरत्नानि, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—  
 "पारण् कर्मसमाप्तौ" 'पारेरज्' [सि. हे. उ. सू. ८७३] इति  
 मुत्रेणज्प्रत्यये "पारक् शाकविशेषः प्राकारः सुवर्णगुणरत्नं च",  
 इति, पारजां—गुणरत्नानां कुरीरः—आलयो योऽसौ पारक्कुरीरः,  
 अररुकूरक्षश्चासौ पारक्कुरीरश्चेति कर्मधारयः ॥४५॥

शमाररं नुररणेरमतेरभर्भर ! ,

खेतेरमर्मरनुतेरगतेरपत्सर ! ।

धीस्थूरकर्वरभजेरजजेरनातुर ! ,

न्यक्कारहानिरररपूरप्रतारणाघर ! ॥४६॥

व्याख्या—हे 'अभर्भर !' न भर्भरोऽभर्भरस्तत्सम्बोधनं  
 हे अभर्भर !—हे अच्छद्वान् !, "भर्भर. छद्वान्" [सि. हे.  
 उ. सू. ६] इत्युणादिवचनप्रमाणात्, अहं 'शर्म' भद्र 'आरर'  
 अत्यर्थं अप्रापम् । कस्मात् ? 'नुः' मनुष्यात् श्रीअरनाथ-  
 लक्षणात् । किम्भूतान्तु ? 'अमतेः' कालस्य 'अरणेः' "रण  
 गतौ" गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वाद्, न विद्यते रणिः—प्रापणं यस्मात्  
 न अरणिस्तस्मात् अरणेः । पुनः किम्भूतान्तुः ? 'खेतेः'  
 सम्य—सुखस्य इति—प्रापणं यस्मात् स खेतिस्तस्मात्, "खमिन्द्रियं

स्वर्गे मूर्खं, भूपाऽऽकाशमुखेषु च ।” [मु. ए. ११] इति सुधाकलश-  
वचनप्रामाण्यात् । पुनः किम्भूतान्नुः ? ‘अममंरजुतेः’ न विद्यन्ते  
ममंराः—दानवाः मयुत्वेन येषां ते अममंराः, यदुक्तमुणादिवृत्तो-  
“ममंरः मृक्कपत्रप्रकरः तद्धर्माऽशोऽपि क्षोदागहिष्णुर्दानवश्च”  
[सि. हे. उ. सू. ६] इति, अममंराः—चतुःश्लिष्टिन्द्रास्तेभ्यो  
नुतिः—स्तुतिर्यस्य स तथा तस्मात् । पुनः किम्भूतान्नुः ? ‘अगतेः’  
नास्ति गतिः प्रस्तावान्नरकगतिर्यस्मात् न तथा तस्मात् ।  
किम्भूत हे अममंर ! ? ‘अपत्सर !’ “त्सर छद्यगती” अकृतः,  
अपगतः त्सरः—छद्यगतिर्यस्य स तथा तत्सम्बोधनम् । पुनः  
किम्भूतान्नुः ? ‘धीस्थूरकर्वरभजेः’ धिया—बुद्ध्या स्थूराः—उच्चा  
ये ते धीस्थूराः—विद्वांसः, “स्थूरः १वधिरः उच्चश्च” [सि. हे.  
उ. सू. ४२६] इति उणादिवचनान्, धीस्थूरेषु कर्वरं  
इव—व्याघ्रा इव ये ते धीस्थूरकर्वरस्तेषु भजिः—सेवा यस्य  
स तथा तस्मात्, “भजत्री भागमेवयोः” इत्युक्तेः, “इकि-  
ञ्चित् स्वस्वार्थे” [सि. हे. ५।३।१३८] इति इः प्रत्ययः ।  
पुनः किम्भूतान्नुः ? ‘अजजेः’ निर्युद्धात्, “जज जजि युद्धे” इ-  
प्रत्ययान्तः । पुनः किम्भूत हे अममंर ! ? ‘अनातुर !’ न आतुरः  
अनातुरस्तत्सम्बोधनम् । पुनः किम्भूतोऽहं ? ‘न्यक्कारहानिः’  
न्यक्कारस्य—न्यक्कारणस्य [हानिः—क्षतिः यस्य] स तथा । पुनः  
किम्भूतोऽहं ? ‘अरपूः’ “ऋक् गती” ये ते सृष्टमपि यं प्राप्नुवन्ति,  
अत्रिअरेमितणव.(?) । पुनः किम्भूत हे अममंर ! ? ‘अप्रना-  
रणाघर !’ “वच्चनं तु प्रतारणं” [अभि. चि. ३।४३] इत्यभिधान-  
कोपयचनाद्, नास्ति प्रतारणं—वच्चनं यस्मिन् सः अप्रतारणः,



“धृ भामि” अचि, अया—लक्ष्म्या जिघत्ति—भासते योऽसौ  
आधरः, अप्रतारणश्रामौ आघग्चेति कर्मधारये अप्रतारणाधर-  
स्तत्त्वम्वोधनम् ॥४६॥

लक्ष्मीरवीभरदभीरतवेरटेतरः,

साधूरकर्तृरगुरोरहरेरदुष्करः ।

सह्योरसूकरमनोरथपारभुर्भुरः,

सह्योरऽज्ञज्ञरसवीरतरेरगह्वरः ॥४७॥

व्याख्या—‘अभी’ न विद्यते भीः—भयं यस्मात् सोऽभीः—  
श्रीधरनाथजिनः ‘लक्ष्मीः’ श्रियः ‘अवीभरत्’ अत्यर्थं अपोषयत् ।  
कथं ? ‘अकर्तृ’ “अत मातत्यगमने” अत्यन्ते—ज्ञायन्ते घमघिर्म-  
फलानि एभ्य इति “क्वचिद्” [सि. हे. ५।१।१७१] इति डे,  
आ.—मिद्धान्तानि तेषां कर्तृ अकर्तृ एव यथा स्यान्वया । कस्य  
लक्ष्मीः अवीभरत् ? ‘अगुरोः’ “अज क्षेपे गती” क्विबन्तः, अक्-  
ज्ञानं तेन उरु—गरिष्ठो योऽसौ अगुरुस्तस्य अगुरोः—श्रावकस्य ।  
अकर्तृ जग्रे जगुरोरित्यत्र “इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलं” [सि हे.  
१।२।२१] इति सूत्रस्य पञ्चमीव्याख्यानतः ऋकारात्पर-  
स्याकारस्य रकारादेशे जाते अकर्तृरगुरोरिति निष्पत्तिः ।  
किम्भूतोऽभी ? ‘अतवेरटेतरः’ अतन्ति—जिनोक्तवर्मादपर घर्म  
मातन्येन प्राप्नुवन्ति येभ्यो ये ते अता—हरहरिब्रह्मादयो देवाः, ते  
च ते वेरटाश्च—नीचा अतवेरटाः, “अथ वेरटः ॥ मिथीकृते च  
नीचे च” [अने. म का ३ श्लो. ७६७, ६८] इति हेमानेकार्थ-  
वचनान्, अतवेरटेभ्य इतर—अन्यो यः स तथा । पुनः किम्भू-  
तोऽभी ? ‘साधू’ मायाः—लक्ष्म्याः धू.—धुराभारो यस्यामी तथा ।

किम्भूतस्य अगुरोः ? 'अहरेः' हरति परद्रव्याणि यः सः हरिः, न हरिः अहरिस्तस्य तथा, साधोरित्यर्थः । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'अदृक्करः' न विद्यते दुष्करं किमपि यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'सह्योः' "सह्यो नीरुजि" इत्युक्तेः संह्या-नीरु-जस्तेषां उः-पालनं यस्मिन् न तथा । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'असूकरमनोरथपारभुर्भुरः' सूकरप्रायत्वात् सूकराः-गठाः, न सूकरा असूकराः-चतुरास्तेषां मनोरथपाराः-कामितपूरकाः "कर्मणोऽण्" [सि. हे. ५।१।७२] इत्यण्, असूकरमनोरथपाराः-देवास्तेषां भुर्भुरः-निचयो भक्त्यर्थं यस्य स तथा, भुर्भुरशब्द औणादिकः । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'सह्यी' सलज्जः । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'अज्ञज्ञंरसवीरतरैः' न सन्ति ज्ञज्ञंराः-वाद्यविद्येपा वात्मनो वादनार्थं येषां ते अज्ञज्ञंराः, सह वीरतरैः-वीरश्रेष्ठैः वर्तन्ते ये ते सवीरतराः, "वीरतरो वीर्येष्ठे" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६५३] इत्युक्तेः, अज्ञज्ञंराश्च सवीरतराश्च अज्ञज्ञं-रसवीरतराः-राजानस्तेषां ईः-लक्ष्मीर्यस्माद् स तथा । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'अगह्वरः' नास्ति गह्वरः-दम्भो यस्मिन् स तथा, "गह्वरो विलदम्भयोः" [अने. सं. का. ३, श्लो. ११५०] इत्युक्तेः ॥४७॥

वन्दारवो ! निरयदारव ! आं ररास रः,

कञ्चारवो ! धरणधारण एरपञ्जरः ।

श्रीसारसासरणिपूरणसारणासिर-

विस्तारकोऽगिरणचूरणजारतत्परः ॥४८॥

व्याख्या — भो 'वन्दारव!' वन्दनशीला ये ते वन्दारवस्त-  
त्सम्बोधने हे वन्दारवः! — भो सुहृदः! 'र.' रम्भयति लोकान्  
योऽसौ रः— श्रीअरनाथजिनः 'आ' श्रियं—धर्मलक्ष्मी 'ररात्'  
अब्रवीत्, व्याख्यानक्षणे इत्यध्याहार्यम् । किम्भूता हे वन्दारव ?  
'निरयदारव !' निरयस्य—नरकस्य दारव.—दारका ये ते निरय-  
दारवस्तत्सम्बोधनम् । पुन किम्भूता हे वन्दारव ? 'कञ्चारवः'  
सुखप्रधानास्तत्सम्बोधनम् । किम्भूतोऽरः ? 'धरणधारणः'  
धरणान्—लोकान् संसारसागरपतनाद् धारयति योऽसौ तथा,  
“धरणोऽहिपतौ लोके” [अने. स. का. ३ श्लो. ८०५] इति  
हैमानेकार्थात् । पुनः किम्भूतोऽर ? 'ए.' कृतार्थः, “एःकुमारो-  
ऽसुरोऽरातिर्ज्ञातीयोऽहित उद्धत । आत्मा शेषो विवस्वांश्च  
कृतार्थो मध्वरि शर. ॥” [सौ. ए १२] इति सौभरिवचनात् ।  
पुनः किम्भूतोऽर ? 'अपञ्जर' नास्ति पञ्जरः—जीववन्धन-  
मथानं यस्मिन् स तथा । पुन. किम्भूतोऽरः ? 'श्रीसारमास-  
रणिपूरणसारणासि' श्री—शोभा लक्ष्मीर्वा मा एव सारम-  
पद्य तद्विकाराशयं आ—ममन्तात् सरणिरिव—भानुरिव ये ते  
श्रीमारमामरणयः, तेषां पूरण—प्रकरणात् सुगम्य पूरणं यस्माल्  
श्रीमारमामरणिपूरण, मारण—अनीसारस्तस्य अस्ति—शेषो  
यस्मान् म मारणामि, “मारण म्यादतीगारे” [अने. सं. का.  
३ श्लो. ८२७] इति वचनप्रामाण्यात्, श्रीसारसासरणिपूरण-  
श्वागौ मारणामिश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतोऽरः ?  
'अधिन्तारक' आ.—गुणिनस्तेषां विस्तार एव विन्तारको  
यस्मिन् स तथा, “अ वृष्णः वृष्टुरो वृत्वा वृषः मोमो-  
नन्दोऽनल. । मूर्धः प्राणो जनः कालो यतनः प्राणतः मृगी ॥”

[सौ. ए. २.] इति वचनप्रामाण्यात् । पुनः किम्भूतोऽरः ? अगिरणचूरणजारतत्परः' गिरणाः—आचार्याः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—  
“गिरणः मेघः आचार्यो ग्रामश्च” [सि. हे. उ. मू. १८८] इति,  
न गिरणा अगिरणाः, नञ्शब्दस्य कुस्मार्थत्वाद् अगिरणाः—  
कुत्सिताचार्यास्तेषां चूरणं—नामो येभ्यस्ते अगिरणचूरणाः—  
व्रीह्यास्तेषां जारः—न्यक्कारस्तत्करणे तत्परः—सावधानो योजौ  
अगिरणचूरणजारतत्परः ॥४८॥

पुस्फोर कीर्तिरदनारतमेरमन्दिर-

रन्तेरतूवरचकीरनिशारमण्यर ! ।

रैहारयो हरय औरसवारकातर-

कंसेरवो भरकशूरणनीरवित्पुर ! ॥४९॥

व्याख्या—हे 'अत् !' "अत सानत्यगमने" क्तिबन्तः,  
अतति-मातत्येन जिनप्रणीतं धर्मं प्राप्नोति योज्यौ अत्, नत्सम्बो-  
धनं हे अत् !—हे श्रावक ! 'हरयः' इन्द्राश्चतुःपृष्ठिसृष्ट्याका  
रवन्ति इति शेषः । नत् कि ? 'पुस्फोर' चचाल, का ? 'कीर्तिः'  
ययः, कयं ? 'अनारतं' निरन्तरं कस्य ! 'णः' "इं गनौ" दिचिम्,  
अयति—वेत्ति शुभानुभूति एः तस्य एः । 'अमन्दिररन्तेः'  
न मन्ति मन्दिराणि—नृहाणि येषां ते अमन्दिराः—यतिनस्तैः नह  
रन्तिः—श्रीडा यस्यामौ अमन्दिररन्तिन्तस्य । किम्भूत हे अत् ?  
'अतूवरचकीरनिशारमण्यरः !' तूवराः—अजननीकाः कुमातृकत्वेन,  
यदुक्तमुणादौ—“तूवरः मन्दश्मश्रूः अजननीकश्च” [सि. हे. उ.

मू. ४८३] इति, न तूवरा अतूवराः—उभयपक्षशुद्धाः पुमांसस्त  
एव चकोरास्तेषां आह्लादकरणाय निशाया रमणो निशार-  
मणः— चन्द्र स इव ये ते अतूवरचकोरनिशारमणाः, ते विद्यन्ते  
येषां ते अतूवरचकोरनिशारमणिनः, तैः रलयोरैक्याद्, अलति-  
शोभते योऽसौ अतूवरचकोरनिशारमणधरस्तत्सम्बोधनम् ।  
किम्भूता हरयः ? 'रैहारय' राया—द्रव्येण हारयश्चारवो ये ते  
तथा, "चारु हारि" [६ । ८०] इति अभिधानकौषवचनात् ।  
पुनः किम्भूता हृग्रः ? 'औरमवारकातरकंसेरवः', उ'सा-  
हृश मगमा कृतानि सेवकजनानां वाञ्छितानि यैस्ते औरसाः—  
मामान्यदेवाः, "उरसो याणी" [मि. हे ६।३।१९६] इति सूत्रेण  
उरमगब्दान् तेन कृते अण्प्रत्यये औरम इति निष्पत्तिः,  
वार एव वारकः, ममूह एवेत्यर्थः, औरसानां वारका येषु ते  
औरमवारका, "तू तारे ऽभिभवे प्लुत्या" इत्युक्तेः अलन्तः,  
आ—मामग्न्येन तर.—अभिभवो येषु ते आतरा.—दानवास्तेषां  
कं—गुखं [३]स्य मेरव—वन्धका ये ते आतरकसेरवः, औरम-  
वारकाश्च ते आतरकमेरवश्चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूत  
दे अतू ? 'मरकशूरणनीरवित्युर !' "मरको मारि" [२।२३६]  
इत्यभिधानकोषोक्त मरकस्य—मारे शूरणं—नागो यस्मात्  
मरकशूरणः, "शूर् पृथं ढी म्न्मभे हिने" इति कथिकल्पद्रुमघातु-  
पाठोक्ते, "इ वधे गत्या" रैप्रत्यये रविनं, निर्गत रविनं  
वधो येभ्यग्ने नीरविना, मरकशूरणाश्च ते नीरविताश्च  
मरकशूरणनीरवितास्ते गन्वि येषां ते मरकशूरणनीरवितिनः—  
आचार्या, गान् उगति—प्राप्नोति गुह्यत्वे योऽसी तथा, तदा-  
गन्तव्यम् "उर् गती" गोत्रो धातुः अजन्त. ॥४६॥

किर्मोरचङ्कुरनुगौरवकेरडस्परः,

काण्डीरयोद्धृखतार ! ततार भास्करः ।

कल्हारदृष्टिरनवीरनुदारयित्वरः,

कासारसच्छंरगतीरजनीरमन्दरः ॥५०॥

व्याख्या — हे 'अवतार !' अवतारः—अवतरणं मंमारस्य

यस्य न अवतारः, तत्सम्बोधनं हे अवतार !—हे गुरो !, “अव-  
तारन्तु नचादितीर्थेष्वतरणेऽपि च ।” [अने. सं. का. ४ श्लो.

१६१०] इत्युक्तेः । 'भास्करः' मूर्यः, जानात्येकप्रकाशकारकत्वान्,  
भास्कर इव भास्करः—श्रीशरनाथजितः 'ततार' जितवान् ।

किं तत् ? 'काण्डीरयोद्धृ,' वाण्डाः—वाणाः विद्यन्ते येषां ते  
काण्डीराः, “काण्डाण्डभाण्डादीरः” [मि. हे. ७।२।३८] इति

मृश्रेणेरप्रत्यये काण्डीरः, काण्डीरा योद्धारो विद्यन्ते यस्मिन्तु  
काण्डीरयोद्धृ तत् काण्डीरयोद्धृ-प्रस्तावाद् वादयुद्धम् । काण्डी-

रयोद्धृ अग्रे अवतार इत्यत्र “उदपादैरस्त्रे स्वरे यवरलं”  
[मि. हे. १।२।२१] इत्यस्य सूत्रस्य पञ्चमीव्याख्यानाद् ऋका-

गत्यस्त्राकारस्य रकारादेशे काण्डीरयोद्धृखतार्येत सिद्धिः ।  
किम्नृतो भास्करः ? 'किर्मोरचङ्कुरनुगौरवकेरडस्परः' किर्मोरा

इव—दैत्या इव ये ते किर्मोराः, प्रस्तावात् शत्रवः, “किर्मोरः शत्रवे  
दैत्ये” [अने. सं. का. ३ श्लो. ११३८] इति वचनात् किर्मोराः—

कपायचनुष्कलक्षणाः शत्रवस्ते चङ्कुराः—अनवस्थिता यस्मात्  
न किर्मोरचङ्कुरः, चङ्कुरमन्त्रं बौणादिकोजवस्मिनवाची,

नोः—स्तुतेः गौरवं—गुरुत्वं येषां ते नुगीरवाः, केरडाः—त्रैराज्ये  
राजानः “केरडः त्रैराज्ये राजा” [मि. हे. उ. सू. १७२] इत्यु-

णादिवचनात्, नुगौरवाश्च ते केरडाश्च नुगौरवकेरडाः, तान् स्पृणोति-प्राणयति योज्सी नुगौरवकेरडस्परः, "स्मृ स्पृ प्रीति-रक्षाप्राणने" इति वचनात्, किर्मोरचङ्कुरश्चासी नुगौरवकेरडस्परश्चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूतो भास्करः ? 'कल्हाग्-दृष्टिः' कमललोचनः, कल्हारशब्द औणादिक उत्पलविशेष-वाची । पुनः किम्भूतो भास्करः ? 'अनवीः' न विद्यन्ते अव्य-म्व्रियो यस्यानौ तथा, यदुक्तमुणादौ—“अवीः प्रकाशः आदित्यः भूमिः पद्मः राजा स्त्री च” [सि. हे. उ. मू. ७११] इति । पुनः किम्भूतो भास्करः ? 'अनुदारथित्वरः' न विद्यते उदारथि-विष्णुः देवत्वेन मेघां ते अनुदारथयः—जैतास्तेषु त्वरा यस्यासी तथा, यदुक्तमुणादौ—“उदारथि विष्णुः” [सि. हे. उ. सू. ६७२] । पुनः किम्भूतो भास्करः ? 'कामारसच्छंरगतीरजनीः' कसाराः—हिंसाः, “कमारः हिंस्रः” [मि. हे. उ. सू. ४०५] इति उणादिवृत्तेः, कामारा एव कामाराः, ऋच्छराः—वेश्याः कुलटा वा, यदुक्तमुणादौ—“ऋच्छरा वेश्या कुलटा त्वरा [अङ्गलिः] च” [मि. हे. उ. मू. ३६७] इति, सह ऋच्छराभिर्वर्तन्ते ये ते मच्छंराः, कामाराश्च ते सच्छंराश्च कासारमच्छंराः—हिमक-लम्पटाः, तेभ्यो गतिः—गमनं येषां ते कासारमच्छंरगतयः—श्रावकाः, तेषां ईः—लक्ष्मीस्तस्या ह्लादकारित्वाद् रजनि-यामिनी अयनि-प्राप्नोति योज्सी रजनीः—चन्द्रः, रजनीरिव-चन्द्रया इव योज्सी तथा । रजनिगद्यस्य उणादिवृत्तौ इका-गन्तव्यान्नात्र पौनरुक्त्यम् । पुनः किम्भूतो भास्करः ? 'अमन्दरः' अमन्दः, “मन्दरो मन्यपर्वते । स्वर्गमन्दारयोर्मन्दे” [अने. मं. वा. ३ श्लो ११८७] इति ह्यमानेकार्योक्तिः ॥१०॥

सनिरपुनरगर्हो रम्फसूरं ननार,  
जयिरकररलोकैरर्कितोऽरत्निधीरः ।

पदिरविविरतप्रारम्भदौरम्ब्यगीर,

विहरणिमरणीमीरर्कसूरः प्रटारः ॥५१॥

व्याख्या—‘अः’ अर्हन् श्रीअरनाथजिनः ‘ननार’ प्राप्त-  
वान्, “नृ नीतो” । किं तत् ? ‘रम्फसूरं’ “रफि गती” गत्यर्थानां  
ज्ञानार्थत्वाद् अलन्तः, रम्फः—ज्ञानं केवलज्ञानं तेन “सूर-  
पूर्यङ्गी स्तम्भे हिसे” इत्युक्तेः अलन्तः, सूरु—हिंसनं चतुर्णां  
कपायाणा यस्मान् स रम्फसूरः—यतिधर्मस्तं रम्फसूरं । किम्भूतः  
अः ? ‘सनिः’ सम्भक्ता, “सनिः सम्भक्ता” [सि. हे. उ.  
सू. ६०७] इत्युणादि., तपसा मिति, तपःकर्त्तव्यर्थः । पुनः  
किम्भूत. अः ? ‘अपुनरगर्हः’ पुनः अगन्ति—पुनः मुक्तिमार्गात्  
कुटिल यान्ति ये ते पुनरग.—मिथ्यादृष्टिनः, “अक [अग]  
कुटिलायां गती” क्विबन्तः, न पुनरगोऽपुनरगः, तेषा अर्हः—  
योग्यो यः स तथा । पुनः किम्भूत. अः ? ‘जयि’ राजा,  
माधूनां इत्यवगन्तव्यम् । पुनः किम्भूतः अः ? ‘अर्कितः’  
स्तुत., “अर्कण् स्तुती” अलन्त, कः ? ‘अकररलोकैः’ न  
करराः अकररा.—अदीनाः, “कररः लगे, करीरे क्रकचे दीने”  
[अने. सं. का. ३ श्लो. ११२७, ११२८] इति हेमानेकार्थात्,  
अकरराश्च ते लोकाश्च अकररलोकास्तै. अर्कररलोकैः—अदीन-  
जनै. । पुनः किम्भूतः अः ? ‘अरत्निधीः’ अरत्निः—शमस्तं

१. “सनि सम्भक्ता पन्था दान म्लेच्छ नदीतटं च” इत्यु-  
णादिवृत्ती ॥



ध्यायतीति योज्यो तथा, यदुक्तमुपादौ—“अरलिः बाहृमध्यं  
 गमः उत्कनिष्ठश्च हस्तः ।” [सि. हे. उ. मू. ६८२] पुनः  
 किम्भूतः अः ? ‘पदिरविदिः’ “पदिरःमार्गः” [सि. हे. उ. मू. ४१२]  
 इत्युपादिवृत्तेः पदिरः—मार्गः प्रस्तावान्नुक्तिमार्गस्तस्य विदिः—  
 ज्ञानं यस्य न तथा, ‘विद ज्ञाने’ “इकिदित्व् स्वरूपायै” [सि.  
 हे. ५।३।१३८] इति इप्रत्यये सिद्धिः । पुनः किम्भूतः अः ?  
 ‘अतप्रारम्भदौः’ अत्यते—सातत्येन जायते धर्मो येन्यस्ते अताः—  
 एकादशाङ्गानि, तेषां प्रारम्भः—प्रारम्भणं तेन द्यति—दुःखं  
 द्यति योज्यो विचि अतप्रारम्भदौः । पुनः किम्भूतः अः ?  
 ‘अम्ब्यर्षीः’ “अम्ब च गती” गत्यर्षीणां प्राप्त्यर्थत्वाद्, यपि  
 अम्ब्या—प्राप्त्यर्हा गीः—वाणीर्वम्ब्यासी तथा । अकारः पाठ-  
 पूरणार्थः । पुनः किम्भूतः अः ? ‘विहरणिमरणिर्षीः’ हरणिः—  
 मृत्युः, यदुक्तमुपादौ—“हरणि. कुल्या मृत्युश्च” [सि. हे. उ. मू.  
 ६३८] इति, मरणी—रात्रिः, औणादिकः, हरणिरेव मरणी  
 हरणिमरणी, विगता हरणिमरणी यस्या मा विहरणिमरणी-  
 मिद्धिः, नां मयति—प्राप्नोति योज्यो तथा, “मीकि गत्यां” क्विबन्तः ।  
 पुनः किम्भूतः अ ? ‘अकंमू’ स्तुतिजनकः । पुनः किम्भूतः  
 अः ? ‘अम्’ दीप्त इत्यर्थः, “अन दीप्ती” क्विबन्तः । पुनः  
 किम्भूतः अ ? ‘प्रटारः’ “टारो लिङ्गतुरङ्गयोः” [अने. मं.  
 का. २ श्लो. ४२६] इत्युक्ते, प्रगताः टाराः—तुरङ्गा यस्मात्  
 न तथा ॥५१॥

१ “अर्षेरलिः ॥६८२॥ अश् गतावित्यम्भ्याशक्तिः प्रायसो  
 भवति ।” इत्युपादिवृत्तौ ।

स्थविरमुनिरधीवा रण्टगत् रंहखोरः,

सरिरजकरदीप्रो रङ्कुचोरप्रधोरः ।

चमरजितिरखर्जरः सुसौरभ्यकारः,

सुपरमपरमेष्ठी रम्बतीरः पपार ॥५२॥

व्याख्या—‘सुपरमपरमेष्ठी’ सु-अतिशयेन परमः—प्रकृष्टः सुपरमः, स चासी परमेष्ठी च सुपरमपरमेष्ठी—श्रीअरनाथजिनः ‘पपार’ प्रीति अजनयत्, जनानामिति गम्भते । किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? ‘स्थविरमुनिः’ स्थविराः—वृद्धा मुनयो यस्यासां तथा । पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? ‘अधीवा’ निर्व्याधिः, अदुक्तमुणादौ—“धीवा मनीषी निपादः व्याधिः मत्त्यश्च” [सि. हे. उ. ६०८] इति । पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? ‘रण्टगत्’ “रटि स्तेये” सौत्रो धातुः—अलन्तः, रण्टात्—चौरिकाया गच्छति—दूरं याति योज्जां तथा । पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? ‘रंहखोरः’ “रहि गत्यां” शानार्यः अलन्तः, रंहः—ज्ञानं प्रस्तावाद् मिथ्याज्ञानं तस्य खोरः—खोटनें यस्मात्स तथा, “खोर्द्ध खोटने” अलन्तः । पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? ‘सरिरजकरदीप्रः’ ‘सरिरे—पानीये जायते सरिरजं—पद्यं, तद्वत् करी—पाणी ताभ्यां दीप्रो यः स तथा । पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? ‘रङ्कुचोरप्रधोरः’ रङ्कुवः—मृगास्ते इव रङ्कुवस्ते च ते चोराश्च रङ्कुचोरास्तेषु प्रधोरः—भयङ्करशब्दो यस्य स तथा, “धुरस् ध्वनौ भीमार्थे” धञन्तः । पुनः किम्भूतः

१. “अलं अडं च सरिरं, सरिरं मलिकं रं(?) तथा ॥९३॥ सरिरं” इति शब्दरत्नाकर, का० ४ ।

मुपरमपरमेष्ठी ? 'चमरजितिः' चमरः—द्वैत्यः, "चमरश्चामरे  
 दैत्ये" [अने. स. का ३ श्लो. ११५४] इत्युक्तेः, चमर इव  
 चमरः—कपायादिचतुष्कलक्षण. शत्रुस्तस्य जितिः—जयो यस्मात्  
 स तथा । पुन. किम्भूत सुपरमपरमेष्ठी ? 'अत्रर्जूरः' नास्ति  
 नर्जूरः—रूप्यं यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतः मुपरमपरमेष्ठी ?  
 'सुसौरभ्यकारः' "सौरभ्यं गुणगौरवे" [अने० सं० कां. ३ श्लो.  
 १११] इत्युक्तेः मुष्टु "सौरभ्यं—गुणगौरवं तस्य कारः—यत्नो  
 यस्य स तथा, "कारो बले वधे यत्ने" [अने. सं. का. २ श्लो.  
 ४०६] इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'रम्बती'  
 "रम्ब गती" तिव्प्रत्ययान्तः, रम्बतिः—गतिः प्रस्तावात् स्वर्गो-  
 पवर्गगतिस्तस्य इः—प्रापणं यस्मात् स तथा । पुनः किम्भूतः  
 मुपरमपरमेष्ठी ? 'अम्' अस्यति—क्षिपति कर्माणि योज्ज्वाली क्विपि  
 अम् ॥५२॥

सत्पूरशकंरविभूरकडार ! वासरं,

भण्डोरकिङ्कुरकटीरगभीरकः किर ।

वापीरचाररणतीरपटीरसुन्दर-

कोटीरपुष्यरयहेरसहोरकुञ्जरः ॥५३॥

व्याख्या—हे 'अकडार !' न कडारः—न विपमदन्तो  
 मः मोऽकडारः, "कडारः पिङ्गलः विपमदशनध्व" [सि. हे. उ  
 मू. ४०५] इति उणादिवचनात्, तत्सम्बोधनं हे अकडार !—  
 हे मुदन् ! हे श्रीअरणावजिन ! त्वं 'किर' क्षिप । किं तत् ?  
 'वागरं' कन्दर्पम्, यदुत्तममुणादी—"वागरः दिवगः कामः अग्निः  
 प्रावृत् च" [सि. हे. उ मू. ३६७] । किम्भूतस्त्वं ? 'गत्पूः'

प्रधानकायः । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अशर्करविभूः' न शर्कराः—  
 कर्कशाः प्रस्तावात् साधवो यस्य स अशर्करः, यदुक्तमुणादौ—  
 "शर्करा मत्स्यण्डिकादिः कर्कशः क्षुद्रपाषाणावयवश्च" [सि. हे.  
 उ. सू. ४३५] इति, विशिष्टा भू—उत्पत्तिर्यस्य स विभूः,  
 अशर्करश्चासौ विभूश्चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूतस्त्वं ?  
 'भण्डीरकिङ्करकटीरगभीरकः' १ "भण्डीर-भण्डीरौ योद्धृविशेष-  
 वाचकौ औणादिकौ, भण्डीराः—योद्धृविशेषाः किङ्करा—दासा  
 यस्यासौ भण्डीरकिङ्करः, कटीरं—जलं तद्धेतुत्वात् कटीरं  
 समुद्रस्तद्वद् गभीरो यः सः कटीरगभीरः, कटीरगभीर  
 इव कटीरगभीरकः, स्वार्थे कः, भण्डीरकिङ्करश्चासौ  
 कटीरगभीरकश्चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'वापीर-  
 चाएरणती.' वापीर.—मेघस्तद्वत् चारः—प्रधानो यो रणतिः—  
 शब्दस्तेन इः—शोभा यस्यासौ तथा । वापीरशब्द. औणादिको  
 मेघवाची । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अपटीरसुन्दरकोटीरपुष्यरथहेः'  
 नास्ति पटीरः—कामो येषां ते अपटीराः, यदुक्तमुणादौ—"पटीरः  
 कन्दर्पः" [सि. हे. उ. सू. ४१६] अपटीराणां सुन्दरकोटीर इव—  
 प्रधानमुकुट इव योऽसौ अपटीरसुन्दरकोटीरः, पुष्यरथः—क्रीडां-  
 रथः प्रस्तावाद् धर्मपुष्यरथः, तेन हिनोति—याति योऽसौ विधि,  
 पुष्यरथहेः, "हि वद्धमे गतौ" अपटीरसुन्दरकोटीरश्चासौ पुष्य-  
 रथहेश्चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अमहोरकुञ्जर.'  
 सहोरः—विष्णुः, नास्ति सहोरो देवत्वेन येषां ते असहोरास्तेपुः

१. "भण्डीरःभण्डीरश्च योद्धृवचने" इति हंमोणादिसूत्र ४२२ वृत्तौ ।

कुञ्जर इव योऽसौ तथा, “सहोरः विष्णुः पर्वतश्च” [सि. हे. उ सू. ४३३] इति उणादिवचनात् ॥५३॥

प्रसरसुपरवाणेरं ददार प्रखौरः

सुगिरयऋरभर्त्तारः परीरः स्वनेरः ।

कनिरसनरवृद्धेरज्यधीरंभ्यगोरः,<sup>१</sup>

पतिरचिकुरसाधोरबंसंरग्यलीरः ॥५४॥

व्याख्या—सुष्टु गिरयः—पूज्या ये ते सुगिरयः—विद्वामः, वदन्तीत्यध्याहार्यम्, “गिरिः पूज्ये” [अने. सं. का. २ श्लो. ४१६] इत्युक्तेः । चतुर्यंपादान्ते ‘अ’ सिद्ध—श्रीअरनाथजिनः ‘ददार’ अदारयत् । किं तत् ? ‘अ’ व्याधि “अं मान्तो ब्रह्मसंवादे परब्रह्मप्रवाचक. ॥ व्यसने व्याधिते व्याधौ” [वि. ए. १६-२०] इति वचनप्रामाण्यात् । कस्य ? ‘प्रसरसुपरवाणेः’ प्रसरः—प्रेमस्तद्धेतुत्वात् प्रसरः, “प्रगरस्तु मङ्गरे प्रणये” [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७३] इति हेमानेनार्थोक्तेः, सु—अतिशयेन परवाणिः—धर्माध्यक्षो यः स सुपरवाणिः, “परवाणिधर्ममाध्यक्षे” [अने. सं. का. ४ श्लो. १४५७] इति वचनप्रामाण्यात्, प्रसरदनासौ सुपरवाणिश्च प्रगरसुपरवाणिस्तस्य । तथा किम्भूतः अः ? ‘प्रखौरः’ प्रगता गौरः—उत्पत्तियंम्मात् ग तथा । कस्य ? ‘रः’ पापस्य, “ऋनिपेधो भवः पूषा, चरणोऽमरराडजः । करी तरुंरः पाप्मा” [गो. ए. ६] इत्युक्तेः, “स्य भूतिपूत्युत्पत्ती” कियन्तः । किम्भूताः सुगिरयः ? ‘ऋरभर्त्तारः’ आ-धर्मः “ऋशब्दः पापके

१ ‘अभ्यर्त्तारः’ इत्यस्य व्याख्यानं तेषामप्रमाणात् पणितमादर्शं ।

सूर्ये घर्मे" [वि. ए. ११] इति वचनात्, रं-घनं, "रं रत्नं रोदनं  
 धनं" [सौ. ए. ८३] इत्युक्तेः, आ च रं च ऋरे, तयोर्भर्तारः—  
 पोषका ये ते तथा । पुनः किम्भूतः अः ? 'परीर.' परीरहेतुत्वात्  
 परीरः, यदुक्तमुणादो—“परीरं वलं” [सि. हे. उ. सू. ४१८] ।  
 पुनः किम्भूतः अः ? 'स्वनेर.' न मन्ति एराः—एडका यस्यासौ  
 अनेर., सुष्ठु अनेरः स्वनेरः । पुनः किम्भूतः अः ? 'कनिर-  
 सनरवृद्धेः' केन-दुःखेन निरसनाः—निरासाः कनिरसनाः,  
 “निरसनं निसूदने । निष्ठीवने निरासे च” [अने सं का ४  
 श्लो. १५५०] इत्युक्तेः राः—नरा., कनिरसनाश्च ते राश्च  
 कनिरसनरास्तेषा वृद्धिः—हर्षो यस्मात् स तथा, तस्य कनि-  
 रसनरवृद्धेः—यतिनः 'पतिः' स्वामी । पुनः किम्भूतः अः ?  
 'अर्ज्यधीः' उपाजंनार्हंघ्यानः । किम्भूतस्य कनिरसनरवृद्धेः ?  
 'अचिकुरसाधोः' “चिकुरोऽहौ गृहे वभ्रौ, केशे चञ्चलशैलयोः ।”  
 [अने. सं का. ३ श्लो. ११५५] इत्युक्तेः न चिकुरः अचिकुरः—  
 अचञ्चलः, साधु-मनोज्ञः, अचिकुरश्चासौ साधुश्च अचिकुर-  
 साधुस्तस्य । पुनः किम्भूतः अः ? 'अर्वसंरग्यलीः' “अर्व गती”  
 अर्वन्ति—धर्माद् दूरं यान्ति ये ते अर्वाः—नास्तिकमतिनः, “रगक्  
 स्वादाऽऽप्तयोः तान् संरागयन्ति—प्राप्नुवन्तीत्येवंशीला अर्वसंर-  
 गिनः, तेन लीयन्ते—नाश्लिष्यन्ते यत्रासौ अर्वसंरग्यलीः ॥५४॥

अयोपसंहारमाह—

इत्थं देवेन्द्रसङ्घप्रणतनरपतिह्लाददस्तीर्थनायो,  
 भद्रं दद्यादरः सोऽभिमतधृतिततिप्राप्तिदः प्राप्तमुक्तिः ।

ख्यातश्रीवाचकज्ञानविमलसुगुणां प्रसादाद्धि यस्य,  
चक्रे श्रीवल्लभेन प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तवोऽयम् ॥५५॥

व्याख्या—सः 'अरः' श्रीअरनाथजिनः 'भद्र' मङ्गलं  
'दद्यात्' प्रयच्छतु । सः कः ? यस्य 'अयं' प्रत्यक्षः 'इत्यं'  
अमुना प्रकारेण 'प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तव.' प्रकृष्टं दलानां  
पत्राणां दशशतं—सहस्रं यस्मिंस्तत् प्रदलदशशतं, तच्च तद्  
अम्भोज च—पद्मं प्रदलदशशताम्भोजं, तद्गर्भो यस्मिन् स प्रदल-  
दशशताम्भोजगर्भं, म चानो स्तवश्च—स्तवनं प्रदलदशशताम्भो-  
जगर्भस्तवः 'चक्रे' अकारि । केन ? ['श्रीवल्लभेन'] श्रीवल्ल-  
भाभ्येन माधुना इत्यर्थः । कस्मात् ? ख्यातश्रीवाचकज्ञानविमल-  
सुगुणां प्रसादान् 'हि' इति निश्चये । किम्भूतोऽरः ? 'देवेन्द्र-  
सङ्घप्रधाननरपतिह्लाददः' सुरेन्द्रनिकरनम्रमनुजेश्वरप्रमोद-  
दायकः । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'तीर्थनाथः' चतुर्विधसङ्घनाथः ।  
पुनः किम्भूतोऽरः ? 'अभिमतवृत्तिततिप्राप्तिदः' अभिगताः—  
वाञ्छिता धृतयः—मन्तोपमुखानि नामां ततिः—श्रेणिः अभिमत-  
वृत्तिततिस्तस्याः प्राप्तिदो य म तथा । पुनः किम्भूतोऽरः ?  
'प्राप्तमृक्ति' अनाप्तमिद्धिः ॥५५॥

इति श्रीसहस्रशतकमङ्गलान्तर्गीअरनाथ-  
त्रिनस्तववृत्तिः समाप्ता ।

## [वृत्तिकार-प्रशस्तिः ।]

खरतरगणजलधिसमुल्लासनरजनीपतिप्रकाराणाम् ।

नम्नानेकनराणां, श्रीजिनमाणिक्यसूरीणाम् ॥१॥

पट्टे वरे [ऽधि] विजयिषु, कुमतिलताव्रातनाशनहिमेषु ।

श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभियानसूरिष्वधीशेषु ॥२॥

युग्मम् ।

येषां स्फुरत्प्रतापाधिक्यजितः सन् निरन्तरं भानुः ।

भ्रमति तमां वियति हि ते, ज्ञानविमलवाचकानन्द्युः ॥३॥

तत्पादाम्बुजमधुकरशिष्यश्रीवल्लभेन गणिना वं ।

विहितास्तववृत्तिरियं, यदनृतमिह तद्व्युधैः शोध्यम् ॥४॥

युग्मम् ।

॥ इति वाचनाचार्यधुर्यस्मयनिकवादीन्द्रकरीन्द्रवार-

पुण्डरीकप्रकारनिर्मलदिङ्मण्डलव्यापियश-पुञ्ज-

श्रुताद्विगारीण-वाचनाचार्यश्रीज्ञानविमलगणि-

प्रवराणां शिष्य-पण्डित श्रीवल्लभगणिना

कृता [स्वोपज्ञ]सहस्रदलकमलगर्भितश्री-

अरनायजिनस्तववृत्तिः

समाप्तिनगमत् ।



सारदारदरक्षारवारपारं दुरन्तरम् ।  
 तारयारं तरस्तार-तरसा रक्तरक्त . . ॥ १० ॥  
 . . . लस्य लज्जारं, मारज्वरज्वलत्पुरम् ।  
 स्फुरद्विरतिरत्नार-नारवर पुरन्दर ! ॥ ११ ॥  
 घोरचारं चलद्घोरं, मरश्चारभरस्वरम् ।  
 निरन्तरसरं नीरसार तारय रन्ध्रम् ॥ १२ ॥  
 वीरधीरस्फुरच्छीलशूलसारङ्गरङ्गर ।  
 गारवो रतर . . . . . रतरस्तर ॥ १३ ॥  
 सारं सारङ्गरङ्ग रविरतरतिरं सारसारं सुरङ्गं,  
 रम्यं रम्यं रमारं मरकरमरकं रक्तरक्तारवारम् ।  
 वारं वार विरक्त रविरविरमरं मारमारं निरस्तं,  
 रक्षया रक्षारक्षारक्षरक्षरक्षरकं . . . खारम् ॥ १४ ॥  
 स्मारं स्मारं सुरक्षिम रसरसरसरं सारसारं शिरस्थं,  
 रङ्गारङ्गोरगारस्थिरचरमुरसा रन्ध्ररक्तारतं रम् ।  
 आरम्भारम्भरम्भोरमरपरपरं वारपारं परत्र,  
 . . . श्वरश्चरचुरचं लब्धरङ्गार . . . . ॥ १५ ॥  
 स्वैरं स्वैरं शरण्यं रणरणरणिरं कारणारण्यरण्या,  
 रण्यारण्यं रसारं सरसरसरसा रन्दरस्फारसीरम् ।  
 गोरं गोरङ्गिरं ता रगरगरगिरं गौरगौरङ्गिरन्तं,  
 रङ्गारङ्गारगारं करगिरमुरसा रङ्गिरङ्गैरगौरम् ॥ १६ ॥  
 सारं सारस्फुरद्गीरसरपरपरं धारणैरन्तरस्या-  
 रब्धारम्भारमारं करणरणरणं रङ्गिरङ्गैरगारम् ।  
 यो रम्भा रन्तु रम्भोरवरवरतरस्फेरणोरं धरस्या,  
 रक्ते रक्तोरजोरं विरतिरविरतेरङ्कुरं स्मारयारम् ॥ १७ ॥

गरधरचरकरवरतरसुरवर,

चरटरचरटरवरटरकरटिर ।

जरठरनरवरजरठरपरठिर,

सरडरसरडरकरटरटरहर ॥ २४ ॥

प . . . . रसुरवरवरपर,

परकरणरपरणरवरणरहर ।

निरजिरनिरजिरनिरजिरनिरजिर,

दुरशिरदुरशिरदरहरनिरसुर ॥ २५ ॥

दुरसुरनिरधरनरधरचरधर,

चरदरसरदरदर . . . रसर ।

स्वरचलचलनरकुलसरकलकल,

भरतरभरतरवरतिलतिलकर ॥ २६ ॥

कुरकुरङ्करकीरकरं करं,

दर पुरन्दरदूरदरं दरम् ।

हरविरञ्चिरमारवरं चिरं,

चिरतरं चर चौरचरं वरम् ॥ २७ ॥

घ . . . घरं घरणोरघरं,

विरत्तेरतरन्तरणीरतिरम् ।

किल कालहरं कुलकारकरं,

स्मर वीरवरं घरणोरतरम् ॥ २८ ॥

वरशीलवरं वरनीरवरं,

सुरचीरसरं सरक्षीरसरम् ।

करवीरकरं करणैरकरं,

स्मर घ . . . स्मर वीरहरम् ॥ २९ ॥

वीरं वरं वरतरं वरवेरवारं,

धीरं धर धर धुरन्धरधीरधीरम् ।

सारस्वरं स्मर सरस्विरसारसीरं,

धीरं धरं धर धर वर वेरवेरम् ॥ ३० ॥

दरभरदरदारं दूरदारं दुरन्त,

रदिरदरद . . , रं भारभारम् ।

भर भरभरभारं भैरवारम्भरंहो,

रहरहरहरं हीरं हरं हीरहीरम् ॥ ३१ ॥

गुरवर-गुरवर-सुरवर-सुरव,

रविरथरविरथरविरथरथर ।

करतरकरतरकरकरचरण,

रविरलरविरलरविरलरवल ॥ ३२ ॥

वीरं परं वरपरं परवारवारं,

हीरं हरं हर हरं हरहार हरम् ।

कीरं करं कर करं करकारकारं,

नीरं निरङ्करकरं निरगारसारम् ॥ ३३ ॥

सुरद्रुं सुरसुरं सुरशैलसारं,

सारङ्ग . . . रतरं हर सैरसारम् ।

सारत्वरं दरतरं गरगैरहारं,

हारं हिरण्यरपुरं परमेरपारम् ॥ ३४ ॥

श्रीरत्नरत्नरमरं नरवारणै रं,

हैरण्यरं वरकर करमालवारम् ।

हारं सुरस्युरसिरं गरमालचालं,

व्यारं . . . वरकरं वर वीरवीरम् ॥ ३५ ॥

वीरं स्मरन्त्युरतरं नरनीरजोरं,

पारम्परं परपरं परमोरसारम् ।

तेरन्त्यर सुरपुरं सुसैरसालं,

सारस्वरस्वरवलं सुरतैरपारम् ॥ ३६ ॥

कैरक्षरस्वरतरक्षरनीरसीर-

. . रस्थिरं स्थिरतरं सुरतैरतारम् ।

पारं दुरन्तरजलस्यरसारसारं,

श्रीलब्धरङ्गरसरं सुरसालसालम् ॥ ३७ ॥

आरम्भरङ्गरतरङ्करजोरहारं,

हेरम्बरं वरतुरङ्गरसूरचारम् ।

संरम्भरम्भरसलंम्भरसालवारं,

सार शरण्यरवरं सुलयोरमारम् ।

शारं सुरं तुरघरं तुर . . र सारं,

वीरं स्मर स्थिरकरं चरणोरचारम् ॥ ३८ ॥

पङ्पदी,

अत्र बन्धे १०१६ षोडशोत्तरसहस्रपत्रबन्धमिदम् ।

श्रीः ॥

## परिशिष्ट ख

उपाध्यायश्रीसहजकीर्तिगणिसन्दूष्यः

### श्रीपार्श्वनाथजिनस्तवः

(शतदलकमलयः)

श्रीनिवासं सुरश्रेणिसेव्यक्रमं,  
दामकामाग्निसंतापनीरोपमम् ।  
माधवेशादिदेवाधिकोपक्रमं,  
तत्त्वसंज्ञानविज्ञानभव्याश्रमम् ॥ १ ॥  
नव्यनीरागताकेलिकर्मक्षम,  
य[य]स्य भव्यैभंजे नाम सम्पद्रमम् ।  
नीरसं पापहं स्मर्यंते सत्तमं,  
तिग्ममोहात्तिविध्वंसतापाभ्रमम्<sup>१</sup> ॥ २ ॥  
लब्धप्रमोदजनकादरसौन्दरधामं,  
तापाधिकं<sup>२</sup> प्रमदसागरमस्तकामम् ।  
घण्टारवप्रकृतिद्रुतकीर्तिराम,  
नक्षत्ररागिरजना[<sup>३</sup>नी]रनताभिरामम्<sup>३</sup> ॥ ३ ॥  
घण्टापयप्रथितकीर्तिरमोपयामं,  
नागाधिपः परमभक्तिवशात् सवामम् ।  
गंभीरधीरसमतामयमातङ्गमं<sup>४</sup> (?),  
मं[<sup>४</sup>म]ह्यानितं नमत तं जिनपं निकामम् ॥ ४ ॥

१ 'तापाभ्रमं' इति ना. ।

२ 'तापाधिक -' इति जे. ।

३ 'रजनायन्ताभिरामम्' इति जे. ।

४ 'माजगाम' इति ना. ।

संसारकान्तारमपास्य नाम  
 कल्याणमालास्पदमस्तक्षामम् ।  
 लाभाय वभ्राम तवाविरामं,  
 लोभाभिभूत. श्रितरागधूमः ॥ ५ ॥  
 कर्मणां राशिरस्तोकलोकोद्गम-  
 संमृतेः कारणं मे जिनेशावमम् ।  
 पूर्णपुण्याद्य दुःखं विघत्तेऽन्तिम,  
 र्ण[?]क्षमस्त्वा विना कोऽपि त दुर्गमम् ॥ ६ ॥  
 कामंणं निर्वृतेहंन्तुमन्योऽसम.  
 यं[?]क्षराट्पूज्य तेनोच्यते निर्मम ।  
 श्रीपते ! तं जहि द्राग् विघायोद्यमं,  
 शान्तशीर्षाद्य मे देहि ऋद्धिप्रसम् ॥ ७ ॥  
 यस्य कृपाजलघोविश्रामं  
 कण्ठगतागुमुभटसङ्ग्रामम् ।  
 भयजनकव्याया . . . मं,  
 जेतारं जगत. श्रिनघामम् ॥ ८ ॥  
 कक्षीकृतवसुभृतपुरांमं,  
 लापोच्चारमहा . . . मम् ।  
 केशोच्चयनिह नयने क्षामं,  
 लिङ्गति कमला<sup>१</sup> कुरु ते क्षेमम् ॥ ९ ॥  
 कन्दयति जगता प्रे . . . . . म,  
 लम्नयति सौख्यपटलमुद्दामम् ।  
 फाल हन्ति च गतपरिणाम,  
 मद् तं महिमस्तो . . . मम् ॥ १० ॥

रसंन[?]न]षेप्सितदानसुरद्रुमं,  
 हितमहीरुहवृद्धिजलोत्तमम् ।  
 तं<sup>१</sup>[?]त]दणपुण्यरमोदयसङ्गमं,  
 समरसामृतमुन्दरसंघनम् ॥ ११ ॥  
 हिनस्ति सद्ध्यानवशात्<sup>२</sup> स्म मध्यमं,  
 तं तीर्थनाथं स्वमत.प्लवङ्गमम्<sup>३</sup> ।  
 सुरासुराधीशममोघनैयमं,  
 रैः नाथ सम्पूजितपद्भुगं स्तुमग् ॥ १२ ॥  
 संसारमालाकुलचित्तमादिमं,  
 सा[?]शा]स्त्रार्थसंवेदनशून्यमश्रमम् ।  
 रम्याप्तभावस्थितपूर्णनिदधन,  
 सर्पाङ्कितः शोषितपापकर्दमः ॥ १३ ॥  
 रत्नश्यालङ्कृतनित्यहेम !  
 सीमाद्रिसारोपमसत्त्वसोम ! ।  
 शोभामयो ज्ञानमयं विसारं,  
 पङ्कगं मां देवं विधेह्यकामम् ॥ १४ ॥  
 भावविभासकनष्टविलोम,  
 स्कन्दितस्कन्दलतं प्रणमाम् ।  
 रङ्गपतङ्गनिवारणमुभीमं,  
 कम्बुदानं(गलं) जिनप हृत ते भौमम् ॥ १५ ॥

१ 'त सदापुण्य—' इति जे. ।

२ 'मद्धयानावस्थितस्य' इति जे. ।

३ 'स्मरप्लवङ्गमं' इति जे. ।

मन्त्रेश्वरः पार्श्वपतिः परिश्रमं,  
 लाभाश्रितस्यापनया मनोरमम् ।  
 कर्मोत्थितं मे जिन साधु नैगमं,  
 रम्भाविलासालसनेत्रनिर्गमम् ॥ १६ ॥  
 समितिमारणरीरमविभ्रमं,  
 हरिनतोत्तममूरिगमागमम् ।  
 श्रयत तं नितमानभुजङ्गमं,  
 फलसमृद्धिविधानपराक्रमम् ॥ १७ ॥  
 णम्रैर्यज्ञ.सृजति शं जिनसावंभोम.,  
 तारस्वेरण विबुधैः श्रित . . . . . हौम ।  
 शोणारिमारिविरहयतवात्तदामं,(?)  
 भयैः स्तुतं निहतदुर्मंतदण्डख . . मम् ॥ १८ ॥  
 माद्याम्वुजध्वसविधौ महद्विमं,  
 न वाजयत्याशुमनस्तुरङ्गमम् ।  
 मन्त्रोपम ते जिन राम[?ग]ञ्चमं,  
 स्तवेन युक्तं गुणरत्नकुट्टिमम् ॥ १९ ॥  
 कलिशैलोत्ख्याधाम—  
 माहात्म्यं हृदयद्रुमम् ।  
 लब्धश्रितवसुत्राम,  
 यन्तिवर्गस्तुत नुमम् ॥ २० ॥  
 लोकनोत्पत्तिधिनाशसंस्थितिविदां मुर्ष्यं जिनं वै स्तुमं,  
 द्रव्यारक्तमगाधर नमत भो ! पूजा वरा पाश्चिमम् ।  
 परपक्षस्य तव स्तवं त्वग्निमित्त . . . करीन्द्रगे  
 सतद्भायमयं वस वदतस्त्रैकाम्यस्तवंदमम्(?) ॥ २१ ॥



भयनाननसद्रोमं,

सन्तति तव जद्गम ।

स्यावराणु[?सु]मतां स्याम, (?)

नयते शककृषिमम् ॥ २२ ॥

दात्तानुदासस्य मम,

भवानन्दविहङ्गमम् ।

साद्यति प्राप्य मुप्रमं(?)

नया [?नया] क्षत्तां महाद्रुमम् ॥ २३ ॥

क्षमायोहित्यनिर्यामं, मानवाच्यं महाक्षमम् ।

तृणिपूज्यं प्रीणयामः, र्खि[?]र्खि[?]स्तोमि नमं नमम् ॥ २४ ॥

स्मरन्ति यं सुन्दरयक्षकदमं,

रागात् समादाय नहन्ति कौडुमम् ।

मिथो मिलित्वा नवु(?)जात्यकुङ्कुमं,

धन्द्राननं तं प्रविलोकनाद्रमम् ॥ २५ ॥

इत्थं पार्श्वजिनेश्वरो भुवनदिक्कुम्भ्यद्गचन्द्रात्मके,

वपे वाघकरस्तनसारकृपया राकादिने कात्तिके ।

मासे लोद्रपुरस्थितः शतदलोपेतेन पद्मेनस-

द्रुतोऽयं सहजादिकीर्तिगणिना कल्याणमालाप्रदः ॥ २६ ॥

श्रीवामातनयं नीतिलताधन घनागमम् ।

नकृशालोकसंपूर्णकायं श्रीदायकं भजे ॥ १ ॥

कलीवैलि कलं कामरहितं सहितं मुरेः ।

संसारसरसीशोपमास्करं कमलाकरम् ॥ २ ॥

सहस्रफणताशोभमानमस्तकमालयम् ।

लोद्रपत्तनसंस्थानदानमातं क्षमागुरुम् ॥ ३ ॥

स्मरामि च ।

[ शतदलकमलवहिःस्यो लेखः ]

ऐ नमः ।

श्रीसाहिर्गुणयोगतो युगवरेत्यर्थं पदं दत्तवान्,  
 येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्तयः ।  
 तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवराः श्रीजैनसिंहाभिधा-  
 स्तत्पट्टाम्बुजभास्कराः गणधराः श्रीजैनराजाः श्रुताः ॥ १ ॥

तैर्भाग्योदयसुन्दरैरिपुसरस्वत्पोडशाब्दे (१६७५) सित-  
 द्वादश्यां सहस्रः प्रतिष्ठितमिदं चैत्यं स्वहस्तश्रिया ।  
 यस्य प्रौढतरप्रतापतरणे. श्रीपार्श्वनायेशितुः,  
 मोयं पुण्यमरां तनोतु विपुला लक्ष्मी जिनः सर्वदा ॥ २ ॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,  
 पुत्री श्रीधरराजपूर्वकधरो तस्याऽथ ताभ्यां क्षिती ।  
 श्रीमल्लोद्भपुरे जिनेशभवनं सत्कारितं खीमसी,  
 तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृती जातः सुतः पूनसी ॥ ३ ॥

तत्पुत्रो वरधर्मकर्मणि रतः व्यातोऽखिलैस्सद्गुणैः,  
 श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य सुकृती श्रीथाहृत्नामकः ।  
 श्रीशत्रुक्षयतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्तमानि ध्रुवं,  
 यः कार्याधिकरोत्तथा त्वमरफी पूर्णा प्रतिष्ठाक्षणे ॥ ४ ॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनसमयं चालेखयत् पुस्तकं,  
 सर्वं पुण्यमरेण पावनमल जन्म स्वकीय व्यधात् ।  
 तेनायं भवनस्य यस्य जिगपन्वोद्धारकः कारितः,  
 सार्द्धं सद्धरराजमेघतनयाभ्या पाश्वनायो मुदे ॥ ५ ॥

श्रीः ।

ऐं नमः ।

श्रीसाहिर्गुणयोगतो युगवरेत्यत्य पदं दत्तवान्,

येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्तयः ।

तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवराः श्रीजैनसिंहाभिधा-

स्तत्पट्टाम्बुजभास्कराः गणधराः श्रीजैनराजाः श्रुताः ॥ १ ॥

तैर्भाग्योदयसुन्दरैरिपुसरस्वत्पोडशाब्दे (१६७५) सित-

द्वादश्या सहस्रः प्रतिष्ठितमिदं चैत्यं स्वहस्तश्रिया ।

यस्य प्रौढतरप्रतापतरणः श्रीपार्श्वनाथेशितुः,

मोय पुण्यभरा तनोतु विपुला लक्ष्मी जिनः सर्वदा ॥ २ ॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,

पुत्री श्रीघरराजपूर्वकधरो तस्याऽथ ताभ्यां क्षितौ ।

श्रीमल्लोद्भवपुरे जिनेशभवनं सत्कारितं खीमसी,

तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृती जातः सुतः पूनसी ॥ ३ ॥

तत्पुत्रो वरधर्मकर्मणि रतः ख्यातोऽखिलैस्सद्गुणैः,

श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य सुकृती श्रीथाहरूनामकः ।

श्रीशत्रुक्षयतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्तमानि ध्रुवं,

यः कार्याण्यकरोत्तथा त्वमरफी पूर्णा प्रतिष्ठाक्षणे ॥ ४ ॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनसमये चालेखयत् पुस्तकं,

सर्वं पुण्यभरेण पावनमलजन्म स्वकीयं व्यधात् ।

तेनायं भवनस्य यस्य जितपस्योद्धारकः कारितः,

मादं सद्वरराजमेघतनयाभ्यां पार्श्वनाथो मुदे ॥ ५ ॥

श्रीः ।

ॐ नमः ।

श्रीसाहिर्गुणयोगतो युगवरेत्यत्यं पदं दत्तवान्,  
येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्तयः ।

तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवराः श्रीजैनसिंहाभिधा-

स्तत्पट्टाम्बुजभास्कराः गणधराः श्रीजैनराजाः श्रुताः ॥ १ ॥

तंभगियोदयमुन्दरैरिपुसरस्वत्पोडशाब्दे (१६७५) सित-  
द्वादश्यां सहस्रः प्रतिष्ठितमिदं चैत्यं स्वहस्तश्रिया ।

यस्य प्रौढतरप्रतापतरणः श्रीपाश्वेनाथेशितुः,

शोभं पुण्यभरां तनोतु विपुलां लक्ष्मी जिनः सर्वदा ॥ २ ॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,

पुत्रो श्रीधरराजपूर्वकधरो तस्याऽथ ताम्यां क्षितौ ।

श्रीमल्लोद्भपुरे जिनेशमवनं सत्कारितं लीमसी,

तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण मुकृती जातः सुतः पूनसी ॥ ३ ॥

तत्पुत्रो वरधर्मकर्मणि रतः त्यातोऽखिलैस्सद्गुणैः,

श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य मुकृती श्रीथाहस्नामकः ।

श्रीगन्धुजयतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्तमानि ध्रुवं,

यः कार्याण्यकरोत्तथा त्वनरफो पूर्णां प्रतिष्ठाक्षणे ॥ ४ ॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनसमयं चालेखयत् पुस्तकं,

सर्वं पुण्यभरेण पावनमलं जन्म स्वकीयं व्यधात् ।

तेनायं भयनस्य यस्य जिगपस्योद्धारकः कारितः,

नादं सद्धरराजमेघतनयाभ्यां पार्श्वनाथो मुदे ॥ ५ ॥

ॐ नमः ।

श्रीसाहिर्गुणयोगतो युगवरेत्यत्यं पद दत्तवान्,

येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्त्तयः ।

तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवरा. श्रीजैनसिंहाभिधा-

स्तत्पट्टाम्बुजभास्कराः गणधराः श्रीजैनराजाः श्रुताः ॥ १ ॥

तंभर्ग्योदयमुन्दरैरिपुसरस्वत्पोडशाब्दे (१६७५) सित-

द्वादश्यां सहस्रः प्रतिष्ठितमिदं चैत्यं स्वहस्तश्रिया ।

यस्य प्रौढतरप्रसापतरणंः श्रीपाश्र्वनाथेशितुः,

मोय पुण्यभरां तनोतु विपुला लक्ष्मी जिनः सर्वदा ॥ २ ॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,

पुत्री श्रीधरराजपूर्वकधरो तस्याऽथ ताभ्यां क्षितौ ।

श्रीमल्लोद्गपुरे जितेशभवनं सत्कारितं खीमसी,

तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृती जातः सुतः पूनसी ॥ ३ ॥

तत्पुत्रो वरधमंकर्मणि रतः ख्यातोऽखिलैस्सद्गुणैः,

श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य सुकृती श्रीथाहूरुनामकः ।

श्रीगशुक्लपतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्तमानि ध्रुव,

यः कार्याप्यकरोत्तथा त्वमरफी पूर्णा प्रतिष्ठाक्षणे ॥ ४ ॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनसमय चालेखयत् पुस्तकं,

सर्वं पुण्यभरेण पावनमल जन्म स्वकीय व्यधात् ।

तेनाय भवनस्य यस्य जिनपस्योद्धारकः कारितः,

मादं सद्वरराजमेवमनयाभ्यां पार्श्वनाथो मुदे ॥ ५ ॥

परिशिष्ट ग

— मूलपद्यानामकाराद्यनुक्रमणिका —

श्लो. सं.	श्लो. सं.
अकरणिररवस्यो २६	पपर ३६
अररतात् १३	पत्फार ४१
अवरहसर- २५	पुस्फोर ४६
अविरतमर ! ३३	पूज्यंरघोरेः २४
असुरनिजंर- १	प्रदरपापंर- ३
इत्थं देवेन्द्रसङ्घ ५५	प्रभुरचतुर- ३५
कंठरकदरभङ्गो १८	प्रवरवर्णंर- २
कविरमसुर- ४०	प्रसरमुपरवाणे ५४
कारोरनीते- २६	दुद्धंरबोधि ३६
किर्मींरचङ्कुर- ५०	वधूरनागरक- ४४
खरुरभिमरनागं २१	भक्ष्यंरगोभि- १७
गुहरनपरथा ३१	भ्रमरवृत्ति- ६
चकार ७	मुहिरगवंर- ४
चटरविघ्नर- १०	मृदरनिकरहारी ४५
चुकोर १८	यक्ष्यंरचोकू- ३०
डमरदुग्ज्वंर- ६	लक्ष्मीरवीभरत्- ४७
तनुरयगरवित्ते २३	लोकैरगोभि २८
धीरंरमारं- १२	ववार १६
नाथंरनुत्तरनरंः २०	विजर ४२

	श्लो. सं.		श्लो. सं.
विदारहर्त्ता-	२२	सनिरपुनर-	५१
विभुरनकर-	१६	स्थविरमुनि-	५२
विभोरमोमो-	८	सुचरणं चरतः	११
विज्ञरमानं-	१५	सुहीरसञ्जीव-	५
वृन्दारकागर-	३४	सृमरमुदिरसेरो	२७
वंदारवो	४८	सोऽकारयद्	३७
धर्माररं	४६	संसारदुस्तर-	३२
सज्जूर	३८	हृष्टंरकान्ति.	४३
सत्पूरशर्कर-	५३		

---

## परिशिष्ट घ

### वृत्तिकारोद्भूतग्रन्थानां तालिका

अनेकार्थनाममाला ३-४, ३-१०, ४-७, ४-८, ४-१०,  
 ५-६, ५-१७, ६-१६, ८-२, ९-१५, १०-१५,  
 १३-११, १३-२२, १४-१२, १८-२२, २३-३,  
 २३-१४, २४-३, २४-८, २४-१८, २४-२१, २५-७,  
 २५-१४, २५-१६, २५-२२, २६-११, २७-२,  
 २७-१२, २८-१, २८-४, २८-६, २८-१७, २८-१६,  
 २९-२३, ३२, -५, ३२-११, ३२-२२, ३३-७,  
 ३३-१२, ३५-११, ३५-१४, ३७-४, ३७-८,  
 ३७-१८, ४०-१०, ४२-१८, ४३-२, ४३-३, ४३-६,  
 ४३-१६, ४४-६, ४४-२०, ४५-१०, ४६-५,  
 ४६-१६, ४६-२०, ४८-३, ४८-१०, ४८-१७,  
 ४८-२०, ४९-३, ४९-१४-१५, ५०-२, ५०-७,  
 ५४-२, ५४-१७, ५५-१३, ५६-१२, ५७-२२,  
 ५८-१०, ५८-१३, ५८-१६, ५९-६, ५९-७,  
 ५९-१३, ५९-१४, ५९-२२, ६०-७, ६०-२०,  
 ६१-३, ६२-१, ६२-७, ६२-९, ६२-१७, ६२-१६,  
 ६१-२१, ६४-१६, ६५-२, ६५-१७, ६५-१६,  
 ६५-२१, ६५-२३, ६६-१, ७०-२१, ७१-१३,  
 ७१-१७, ७२-६, ७२-१६, ७५-७, ७५-१६,



७६-२४, ७७-१६, ७८-१६, ८०-२, ८०-६, ८०-८,  
८२-८, ८२-१४, ८२-१५, ८३-८, ८३-१४

अभिधानचिन्तामणिनाममाला २६-२०, ४६-१२, ५७-८,  
६६-२२, ७४-७, ७४-१७

कविकल्पद्रुम २६-३, ३६-१, ६३-७, ६५-१२, ६७-१६,  
७४-१८

गोपालभट्टी ११-४

ध्वनिमञ्जरी १५-१०

धातुपारायण ६०-११, ६५-६

पाणिनीयव्याकरण ५४-८

पाणिनी गणसूत्र ४८-५

विश्वशम्भुनाममाला ५-१५, ६-८, ६-२०, ११-१६,  
१४-२२, १६-१, २५-१७, ३४-२, ३६-२४,  
३६-७, ३६-६, ५३-१४, ५६-१८, ६०-१६,  
६१-२०, ८२-११, ८३-१

शेषसंग्रह ३-१२, ४०-२०

सिद्धहेम-उणादिसूत्र-सवृत्ति ३-१८, ४-१६, ५-८, ८-२१,  
१०-१४, ११-१, १४-१५, १६-२०, २१-६,  
३०-१६, ३१-४, ३४-६, ३६-१२, ३६-१५,  
८०-६, ४१-११, ४१-१५, ४६-२४, ४७-२,  
५०-११, ५३-४, ५३-७, ५३-११, ५३-२०,  
५४-६, ६४-३, ६५-१४, ६६-२१, ६७-४, ६७-६,  
६७-६, ६८-३, ६८-७, ६८-१७, ६९-३,

६६-११, ७३-३, ७३-२१, ७५-२३, ७६-४,  
७६-७, ७६-११, ७६-१३, ७६-१५, ७७-१०,  
७८-१, ७८-१३, ७९-१०, ८०-१६, ८०-२२

सिद्धहेमचन्द्रानुशासन २-१६, २-२०, ४-१६, ८-७,  
१०-२१, १२-१७, १३-१६, १७-२२, १८-१५,  
२०-१३, २२-१७, २२-१८, २३-६, २५-६,  
२८-२१, २९-३, ३०-८, ३०-१८, ३०-२०,  
३१-११, ३१-१६, ३२-२, ३३-४, ३४-१२,  
३५-१३, ३५-१७, ३८-१०, ३८-१३, ३९-१२,  
३९-१७, ४२-१०, ४४-११, ४४-२१, ४५-१६,  
४७-१५, ४७-१६, ४९-१८, ४९-२२, ५०-५,  
५१-२०, ५२-६, ५५-२, ५५-६, ५५-१७,  
५६-१०, ५६-२३, ५७-१५, ५९-८, ६०-१४,  
६०-२१, ६४-१०, ६६-५, ६७-१२, ६९-१५,  
७०-११, ७०-१५, ७१-८, ७४-१०, ७५-११,  
७५-१५, ७८-५

मुधाकला ए. नाममाला ३७-२३, ५३-१३, ५७-२१,  
६६-१

सौभरि ए. नाममाला ३-६, ६-२२, १३-१०, १४-५,  
१६-१४, २३-१०, २८-११, ४७-८, ५०-१७,  
५२-१४, ५३-१२, ५६-२, ७२-१२, ७३-१,  
८३-२

हिंगचन्द्राचार्य ३-२, १८-१८, २७-१२, २९-६, ६५-२०